विप्लव प्रकाशन—२८

गांधीवाद की शवपरीक्षा

यशपाल

विप्लव-कार्यालय, लखनऊ

नवम्बर १६५२] [मूल्य २) आठ आना

प्रकाशक—
विप्लव कार्यालय,
लखनऊ.

मुद्रक—
साथी प्रेस
लखनऊ.

समर्पण :—

सम्भव है कुछ पाठकों और आलोचकों को गांधीवाद को 'शोषक श्रेणी का प्रपंच' कहना सौजन्य की दृष्टि से उचित न जान पड़े परन्तु चोर से सावधान रहने और उसे पकड़वा सकने के लिये चोर को चोर कह कर पहचानना और पहचनवाना आवश्यक होता है। चोर को सौजन्य के नाते चोर न कहने का सुझाव चोर ही दे सकता है। चोर को चोर न कहना चोरी में सहायक होना ही है।

सर्वसाधारण जनता के परिश्रम के फल की चोरी को मान्यता देने वाले सिद्धान्तों की शिकार जनता को मैं अपना यह परिश्रम अर्पण कर रहा हूँ।

यशपाल

विषय-क्रम

गांधीवाद की आधुनिक सार्थकता

हमारा देश और जनता प्राण रक्षा की समस्या से व्याकुल हैं। हमारे देश का शासन सम्भाले लोगों का दावा है कि गाधीवाद के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक आदर्श ही हमारी समस्याओं को सुलझा कर समाज में सब लोगों के लिये विषमता रहित सुव्यवस्था स्थापित कर सकेंगे। दूसरे सिद्धान्तों या कार्यक्रम पर चलने से व्यक्तिगत और राष्ट्रीय रूप में हमारा सर्वनाश हो जायगा। अपने वर्तमान और भविष्य का पूरा बोझ अपने शासक नेताओं पर ही न छोड कर हम स्वयं भी उस विषय में कुछ सोच विचार सकते हैं।

गाधीवाद की व्याख्यायें और गाधीवादी कार्यक्रमों के अनुभव पिछले बत्तीस वर्ष से हमारे सामने हैं। इन बत्तीस वर्षों में गाधीवाद ने हमारी किन समस्याओं को हल किया है? गाधीवाद ने देश को सर्वसाधारण के लिये जीवन का अवसर पाने के पथ पर आगे बढाया है या वह हमारे मुक्ति और विकास के लिये व्याकुल समाज के चरणों की बेडी बना हुआ है? यह सर्वजाँच-पडताल किये बिना, आंखें मूद कर गाधीवादी सरकार की नीति के हाथों में अपना भाग्य बने रहने देना सचेत और जागरूक जनता के लिये अब सह्य नहीं।

पिछले बत्तीस वर्षों से भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस और गाधीवाद प्राय समानार्थक रहे हैं या गाधीवाद काग्रेस के शरीर मे आत्मा और और चेतना-शक्ति के रूप में रहा है। इसलिये काग्रेस और काग्रेसी सरकार के व्यवहार का उत्तरदायित्व या श्रेय गाधीवाद पर ही होगा। इस बीच जनता ने काग्रेस को अहिंसात्मक रूप से स्वतत्रता का आन्दोलन करने वाली संस्था से पुलिस और फौज की शक्ति और दमनकारी कानूनों द्वारा शासन करने वाली शक्ति के रूप में परिणित हो जाते देखा है। एक दिन काग्रेस अन्न-वस्त्र की समस्या से पीडित मार खाने

के लिये तैयार स्वयंसेवकों की शक्ति पर निर्भर करती थी और देश के सामन्ती और पूंजीपति लोग उसे अविश्वास और अशंका की दृष्टि से देखते थे। आज कांग्रेस मुख्यत. सामन्ती और पूंजीपति वर्ग की ही विश्वासपात्र बन गयी है। कांग्रेस में ऐसा परिवर्तन आ सकने की सम्भावनायें गांधीवाद की ही देन है अथवा कुछ और ?

गांधीवाद के नेतृत्व में भारत की जनता ने जैसा स्वराज्य पाया है उसका रूप कांग्रेस के स्वराज्य के लिये आन्दोलन के ढंग में ही समाया रहा है। कांग्रेस आन्दोलन की सब से बड़ी विशेषता रही है उसका आध्यात्मिकता का दावा और तथाकथित अहिंसा और सत्याग्रह की नीति। गांधीवादी सत्याग्रह और अहिंसा की इस नीति का अर्थ था शोषित जनता को अपनी मुक्ति के लिये क्रान्ति के संघर्ष से रोके रहना। कांग्रेस के इतिहास में जब कभी जनता ने आन्दोलन के मोर्चे पर आ कर विदेशी सरकार की नींव जिस आर्थिक व्यवस्था पर जमी थी उसे पलटने का यत्न किया, उसी समय गांधीवादी अहिंसा हिन्दू सेना के सम्मुख खड़ी कर दी जाने वाली गाय के रूप में जनआन्दोलन के सामने आ खड़ी हुई। देश की करोड़ों साधनहीन जनता की नित्य होती हिंसा को समाप्त करने की चिंता गांधीवाद का नहीं रही। ठीक विपरीत इसके गांधीवाद को सदा व्यवस्था के पलटने के कारण हो जाने वाली बगावत का ही भय रहा। गांधी जी अंग्रेजी शासन में देश का शोषण लखपतियों के सात पैसे कमाने वाले मजदूर बन जाने की आशंका से देखते थे * परन्तु पीढ़ियों से सात पैसे कमा कर अन्न-वस्त्र के लिये छटपटाते मजदूर को आत्मनिर्णय का अधिकार कैसे मिले ? यह चिन्ता गांधी जी को नहीं थी।

जनता के आन्दोलन को धक्का पहुँचा कर भी व्यवस्था को पलटने न देने की गांधीवाद की नीति का तात्पर्य कामरेड स्टैलिन के शब्दों में स्पष्ट हो जाता है। उपनिवेशों में पूंजीपति वर्ग की नीति के संबंध में उनका कहना है:—"पूंजीपति वर्ग का यह भाग (नेतृत्व) साम्राज्यवाद की अपेक्षा क्रान्ति से ही अधिक भयभीत रहता है। यह लोग देश की अपेक्षा अपनी तिजोरियों की ही अधिक चिन्ता करते है। यह लोग क्रान्ति के घोर विरोधी होने के कारण देश के किसान-मजदूरों के विरुद्ध

* कांग्रेस का इतिहास, पट्टाभि सीतारमैय्या, पृ० ६१६.

साम्राज्यवादियों के सहायक और साझीदार बने रहते हैं।" गांधीवादी अहिंसा की नीति का यही अनुभव से प्रमाणित वास्तविक विश्लेपण है।

गांधीवाद निरीहता और दरिद्र नारायण की सेवा का दम भरते-भरते आज देश की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था पर अपना एक मात्र अधिकार रखने का दावा करने वाले वर्ग का ध्येय बन गया है। कांग्रेसी सरकार देश में उनका शासन कायम कर सकने वाली रक्तहीन क्रान्ति का श्रेय गांधीवाद को ही देती है। देश में शासक तो बदले परन्तु शासन दरिद्र नारायण का नहीं हुआ। इस रक्तहीन क्रान्ति से दरिद्र नारायण की अवस्था में यही परिवर्तन आया कि उनकी अवस्था बदतर हो गई। दरिद्र नारायण की पूजा की बात करते-करते गांधीवाद ने शासन की बागडोर देश की शोषक श्रेणी के हाथ कैसे थमा दी? इस में गांधीवाद के साथ ही धोखा हुआ या गांधीवाद के त्याग और अहिंसा के सिद्धान्तों का अनिवार्य क्रियात्मक परिणाम यही होना था, यह सब समझने के लिये और भविष्य में देश के लिये गांधीवाद की उपयोगिता आंक सकने के लिये गांधीवाद के सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक है।

गांधीवाद सामन्ती और पूंजीवादी शोषक व्यवस्था के परिणामों को देखकर इस व्यवस्था के बदलने और सर्वसाधारण जनता की मुक्ति के मार्ग का निर्देश नहीं करता बल्कि सामन्ती और पूंजीवादी व्यवस्था में इस व्यवस्था को नष्ट कर देने वाले अन्तरविरोध उत्पन्न हो जाने से पूर्व की अवस्था को आदर्श बता कर इन शोषक व्यवस्थाओं को चिरजीव बनाने का प्रयत्न करता है। गांधीवाद जनता की मुक्ति सामन्तकालीन घरेलू उद्योग-धन्दों और स्वामी सेवक के सम्बन्ध के पुनुरुत्थान में समझता है जो इतिहास की कब्र में दफ़ना दी जा चुकी व्यवस्था में हैं। मृतक शरीर समाज को प्रगति की ओर ले जाने का काम नहीं कर सकते। उनका उपयोग, उनका जीवन समाप्त कर देने वाले कारणों को समझने के लिए उनकी शवपरीक्षा करने में ही हो सकता है।

यशपाल

गांधीवाद का परिचय :—

स्वयं गांधीजी के शब्दों मे गांधीवाद का परिचय इस प्रकार है :—

"गांधीवाद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं कि मैंने किसी नये तत्त्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य हैं, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से उतारने का प्रयास मात्र किया है। मुझे दुनिया को कोई नई चीज नहीं सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये हैं • "* इसी सत्य और अहिंसा को चरितार्थ करना गांधी जी का और उनके अनुयाइयों की संस्थाओं का आदर्श और उद्देश्य है। इस विषय मे गांधी जी आगे कहते हैं.—

"ऊपर जो कुछ मैंने कहा है, उस मे मेरा सारा तत्त्व ज्ञान—यदि मेरे विचारों को इतना बडा नाम दिया जा सकता है, तो—समा जाता है। आप इसे गांधीवाद न कहिये, क्योंकि उसमें 'वाद' जैसी कोइ बात नहीं है।" +

गांधी जी के शब्दों मे ही यदि गांधीवाद को समझना हो तो सत्य

---

* अपने कार्यक्रम के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार, 'हरिजन बन्धु' २६-२ १६३६।

+ कांग्रेस का इतिहास पृष्ठ ४६०

और अहिंसा की साधना ही मनुष्य का उद्देश्य है। गांधीवाद का मत है, व्यक्तिगत रूप से सत्य और अहिंसा की साधना से मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति कर व्यक्तिगत पूर्णता प्राप्त करता है और सामूहिक रूप से इन गुणों की साधना द्वारा समाज मे 'राम-राज्य' स्थापित हो सकेगा। गांधीवाद का सामाजिक और राजनैतिक आदर्श रामराज्य है। संक्षेप मे सत्य, अहिंसा, सेवा द्वारा रामराज्य की स्थापना गांधीवाद का आदर्श है और यही उसका कार्य-क्रम और साधन भी है।

जिस आदर्श, उद्देश्य और कार्यक्रम का प्रचार गांधी जी करते थे, उसे गांधीवाद के नाम से पुकारे जाने का गांधी जी ने विरोध किया था। परन्तु उनके अनुयायी अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रम को जनता के सम्मुख रखने समय गांधी जी का नाम अपने सिद्धान्तों के साथ जोड देना उपयोगी समझते हैं। दूसरे सिद्धान्तों से अपने सिद्धान्तों की तुलना करते समय, अपनी पुस्तकों, समाचार-पत्रों और बातचीत मे वे 'गांधीवाद' शब्द का ही प्रयोग करते है। इसलिये यदि हम भी गांधीजी की नीति, सिद्धान्तों और कार्य-क्रम की चर्चा करने के लिये 'गांधीवाद' शब्द का उपयोग करें तो अनुचित न होगा, न उसमे गलतफहमी के लिए ही कोई गुंजाइश होनी चाहिये।

गांधी जी ने विनय और त्याग का आदर्श अपनाया था। अपने नाम से सम्प्रदाय चलाने की महात्वाकांक्षा से इन्कार कर देना ही उन्हे शोभा देता था। परन्तु वास्तव मे गांधी जी को स्वयं भी 'गांधीवाद' नाम से कोई एतराज नही था। कांग्रेस के कराची अधिवेशन मे (२५ मार्च, १९३१ को) अपने कार्यक्रम का विरोध करने वालों को उत्तर देते हुए उन्होंने बलपूर्वक कहा था "गांधी मर सकता है परन्तु गांधीवाद अमर रहेगा।"

गांधी जी अपने सिद्धांतों को अमर समझते थे। उनकी इस धारणा का आधार अपने नैतिक सिद्धांतों की नींव सत्य-अहिंसा के रूप को "शाश्वत" या कभी न बदलने वाला मानना था। उनका विश्वास था कि दुःखी, दरिद्र और पराधीन भारत की मुक्ति उनके शाश्वत सत्य-अहिंसा के सिद्धांतों से ही हो सकती है। इतना ही नही, उनका विश्वास था कि पारस्परिक संघर्ष और अशांति मे नष्ट होते सम्पूर्ण संसार की रक्षा और कल्याण उनके शाश्वत सत्य-अहिंसा के सिद्धांत ही कर सकेंगे। गांधी-

वाद का सिद्धान्त है कि संसार के पारस्परिक संघर्ष में फंस कर विध्वंस होने का कारण भौतिक सभ्यता है जो मनुष्य को स्वार्थी बना कर सांसारिकता की होड़ में फंसा देती है। इसी भौतिक सभ्यता के प्रभाव से समाज और राष्ट्र भी स्वार्थी और हिंसक बन जाते हैं और अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष आरम्भ हो जाते हैं। इन सब व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्याधियों का उपाय गांधीवाद आध्यात्मिक संस्कृति और सभ्यता को मानता है। इस आध्यात्मिक सभ्यता का आधार व्यक्ति का परलोक की ओर दृष्टि रखना और सांसारिक समृद्धि की उपेक्षा कर अपनी आवश्यकताओं को कम करके त्याग की भावना में संतोष पाना है। इस आध्यात्मिक सभ्यता को गांधीवादी संसार के लिये भारत की विशेष देन बताते हैं।

मनुष्य समाज के लिये आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृतियों और सभ्यताओं की उपयोगिता को तुलनात्मक रूप से जांचने की कसौटी इन सभ्यताओं को स्वीकार करने वाले देशों और समाजों का इतिहास ही माना जा सकता है। इन दोनों सभ्यताओं में से किस सभ्यता ने मनुष्य समाज को जीवन निर्वाह और विकास के दृष्टिकोण से अधिक सफल और सामर्थ्यवान बनाया, यह इतिहास ही बतायेगा। यंत्रों और भौतिक साधनों के विकास में आगे रहने वाले राष्ट्रों की तुलना में भारतवर्ष की आज भी क्या अवस्था है, यह किसी से छिपा नहीं।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत पर जब जब भी विदेशी आक्रमण हुए, अधिकतर विदेशी भारतीयों को परास्त करने में सफल होते रहे। भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशियों की तुलना में भारत-वासी अपने आपको आध्यात्मिक रूप में सदा ऊंचा मानते रहे हैं परन्तु हमारी इस आध्यात्मिक उन्नति ने हमें आत्मरक्षा के योग्य नहीं बनाया। विदेशियों के मुकाबले में भारत की इस परम्परागत निर्बलता का कारण क्या रहा है, यह उपेक्षा की बात नहीं। भारत पर आक्रमण करने वाले कुछ विदेशी भौतिक रूप से भारतवासियों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। उनसे मुकाबला होने पर भारतीयों की आध्यत्मिक उन्नति भौतिक निर्ब-लता का उपाय न कर सकी। भारत पर आक्रमण करने वाले कुछ विदेशी भौतिक सभ्यता की दृष्टि से भी भारतीयों की अपेक्षा पिछड़े हुए थे परन्तु वे भी भारतीयों को परास्त कर सके। भारतीयों की इस निर्बलता का

कारण उनकी सांसारिकता को उपेक्षा करने वाला आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही था।

शरीर, जीवन के भौतिक साधनों और सांसारिकता को नश्वर मान 'आत्मा' को अमर समझ कर सांसारिक संघर्ष से दूर हट 'आत्मा' को सुखी और मुक्त बनाने का आध्यात्मवादी मार्ग और जीवन के उद्देश्य की सफलता इस संसार से परे मृत्यु के बाद मानने की प्रवृत्ति समाज के व्यक्तियों को अत्यन्त व्यक्तिवादी और संसार की चिन्ता के प्रति उदासीन बना देती है। व्यक्ति या समाज जिस बात की चिन्ता करता है, जिसके लिये प्रयत्न करता है उसे पाता है। जिसकी उपेक्षा करता है, उसे खो देता है। भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यहा आये थे। उन्होंने उन्हे पालिया और भारतीयों ने मृत्यु के मार्ग से परलोक का सुख और आत्मा की मुक्ति की कल्पना पायी। राष्ट्र के रूप मे भारतवासी चिरकाल से आध्यात्म या परलोक को प्राधान्य देकर सासारिकता की उपेक्षा करते आये है। इसीलिये सासारिक द्वन्द्व में उनका पराजित होते रहना स्वाभाविक रहा है।

भौतिक उन्नति की उपेक्षा कर आध्यात्म के मार्ग से जीवन को सफल बनाने मे विश्वास रखने वाले लोगों की धारणा है कि भौतिक और शारीरिक रूप से पिछड़े और पराधीन रह कर भी भारतवासी आध्यात्मिक रूप से दूसरे देशों की अपेक्षा आज भी बहुत उन्नत हैं। भारतवासियों की आध्यात्मिक उन्नति का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न हमे दिखाई देता है न आध्यात्मवादी और गाधीवादी ही दिखा सकते है। आध्यात्म द्वारा जहाँ तक व्यक्तिगत और सामाजिक चरित्र की उन्नति का संबध है, भारतवासी भौतिक संस्कृति पर भरोसा रखने वाले देशों की अपेक्षा अधिक प्रशसा के अधिकारी नही है। जहा तक दैनिक जीवन की ईमानदारी का प्रश्न है, उसके लिये भी भारतवासियों की कोई ख्याति नही। भारतवासियों की इस चरित्रहीनता का कारण है उनकी भूख और आवश्यक भौतिक साधनों के पाने के अवसर की कमी। उदाहरणात बिना टिकट के सफर करना, व्यापार-व्यवसाय में झूठे भाव तोल से या मिलावट से नोच-खसोट करना, या छोटी-छोटी चोरी डकैती आदि के अपराधों की संख्या हमारे देश मे दूसरे देशों की अपेक्षा कही अधिक है। जहा तक चरित्रबल द्वारा शारीरिक स्वाध्य और उन्नति का प्रश्न है, भौतिक संस्कृति पर भरोसा करने

वाले राष्ट्रों मे औसत आयु और शारीरिक अवस्था हमारे देश की अपेक्षा बहुत अच्छी है और अधिक सुधरती जा रही है। यह बात भारत मे ही नहीं भौतिक रूप से कंगाल सभी एशियाई और योरूपियन देशों में भी है। अलबत्ता मृत्यु के पश्चात आध्यात्मप्रधान भारतवासी अधिक सख्या में मोक्ष प्राप्त कर लेते हों, या उन्हे परमेश्वर का साक्षातकार भौतिक संस्कृति पर भरोसा रखने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक हो जाता हो तो इस बात के लिये कोई विश्वास योग्य प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता।

पिछले चार वर्षों मे गाधीवादी सत्य अहिंसा की दावेदार काग्रेमी सरकार के रामराज्य मे भारतीय प्रजा के चरित्र की कितनी उन्नति हुई है अथवा गांधीवाद के सत्य-अहिंसा के आध्यात्मिक उद्देश्यों से स्वय काग्रेस-जनों का ही चरित्र कितना सुधर गया है, यह जानने के लिये गाधी जी के पश्चात उनके मुख्य पत्र 'हरिजन' के सपादक श्री मश्रूवाला का वक्तव्य सब से अधिक विश्वास योग्य है। श्री० मश्रूवाला ने २३ अगस्त १६५० को काग्रेस की भीतरी अवस्था के विषय मे कहा था—"मेरी सम्मति मे आचार और नैतिकता की दृष्टि से इस संगठन का इतना पतन हो गया है कि ईमानदार व्यक्तियों को इससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिये।" * यह है स्वय उस काग्रेस की अवस्था जो गांधीवाद के सिद्धान्तों द्वारा देश की जनता को सत्य अहिंसा का पाठ पढाना चाहती थी।

काग्रेसी सरकार के हाथ मे शासन का अधिकार आने के बाद से देश भर मे चोरबाजारी, रिश्वतखोरी और सिफारिश का राज्य कायम हो जाने का श्रेय काग्रेसी सरकार के आध्यात्मिक सत्य-अहिंसा के दृष्टिकोण को ही दिया जा सकता है। इसके विपरीत सत्य और अहिंसा को भौतिकता की कसौटी पर कायम करने वाली मार्क्सवादी नैतिकता का परिणाम हम कम्युनिस्टों के नेतृत्व मे स्थापित चीन की सरकार के कार्यक्रम मे देख सकते हैं। कम्युनिस्टों के पक्षपातियों की बात छोड दीजिये। सिद्धान्त रूप से कम्युनिज्म के विरोधी, प्रमुख गाधीवादी आचार्य कृपलानी ने ही काग्रेसी शासन के प्रति खिन्नता प्रकट करते हुये लिखा था—"यदि चीन मे च्याग सरकार का शासन समाप्त होकर जनवादी सरकार स्थापित होते ही चीनी सरकार [illegible] प्रसिद्ध अनाचार,

---

* सन १६५० में काग्रेस के प्रधान के निर्वाचन के समय श्री मश्रुवाला का वक्तव्य।

वेइमानी और दमन समाप्त होकर वहाँ न्याय, सुव्यवस्था और इमानदारी से प्रजा के संतोष की व्यवस्था हो गई है तो काग्रेसी सरकार के शासन मे यह सब क्यों नही हो सकता।" उत्तर सीधा है, चीन में जनवादी सरकार द्वारा लागू की गई नैतिकता और न्याय का आधार भौतिक सत्य की कसौटी पर खरा उतरने वाला द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद है, परम्परागत शोषण के अधिकार का समर्थन करने वाली गाधीवादी आध्यात्मिकता नही। वहा सत्य-अहिसा का निश्चय जनहित के दृष्टिकोण और जनमत से होता है, सर्वसाधारण के मन और वाणी से परे रहने वाले शाश्वत सत्य-अहिसा के आधार पर नही। शोषण के अधिकार का समर्थन करने के प्रयोजन से निश्चित सत्य और अहिसा की धारणाओं का परिणाम जनता का शोषण और दमन ही होगा।

आध्यात्मप्रधान सस्कृति के राजनैतिक और आर्थिक आदर्श रामराज्य से मनुष्य समाज का क्या कल्याण हो सकता है, इसका अनुमान गाधीवाद को अपनी नीति के रूप मे स्वीकार करने वाली काग्रेसी सरकार के चार वर्ष के लेखे से लगाया जा सकता है। काग्रेसी सरकार की चार वर्ष की शासन-व्यवस्था मे भारतवासियों ने आर्थिक क्षेत्र मे अथवा नागरिक अधिकारों और राजनैतिक स्वतंत्रता के रूप मे क्या पाया, इसे प्रत्येक भारतवासी खूब देख और समझ रहा है। विदेशी सरकार के हाथ से रामराज्य या गाधीवादी नीति के हाथ मे देश का शासन आ जाना सर्वसाधारण भारतियों ने अपना दुर्भाग्य ही समझा है। भारतीय प्रजा की इस भावना की सचाई को इस देश के प्रमुख गाधीवादियों श्री० जे० बी० कृपलानी, किशोरीलाल मश्रुवाला आदि को भी स्वीकार करना पड़ा है। श्री कृपलानी और मश्रुवाला दोनों ही गाधी जी के निकटतम कार्यकर्ता रहे है। मश्रुवाला गाधी जी के मत्री निजी और कृपलानी गाधी जी द्वारा संचालित काग्रेस के वर्षों तक मुख्य मंत्री रहे है। कृपलानी आज सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार कर रहे है कि काग्रेस के साढ़े चार वर्ष के शासन ने भूख, रिश्वत और सिफारिश का ही राज कायम किया है। इस शासन मे समृद्धि हुई है तो केवल चोरबाजारी करके जनता का खून चूसने वालों को ही।* कृपलानी इस सचाई से तो

---

* इलाहाबाद में श्री क्रिपलानी का ६ जून १९५१ का भाषण,
National Hearld 10 June, 51

इनकार नहीं कर सकते कि गाधीवादी कांग्रेसी रामराज्य में जनता का शोषण और दुरावस्था बढ़ी है परन्तु वे जनता की दुरावस्था और शोषण की जिम्मेवारी गाधीवादी सत्य अहिंसा के कार्यक्रम पर नहीं रखना चाहते। उनका कहना है कि कांग्रेसी सरकार गांधीवादी सिद्धांतों से गिर गई है। यह बात अच्छा खासा मजाक मालूम होगी कि गांधीवादी राजनीति को व्यवहार में लाने वाले सभी नेताओं में केवल कृपलानी और मश्रुवाला ही गाधीवाद को समझते हैं। सरदार पटेल, प० नेहरू, राजगोपालाचार्य और के० एम० मुन्शी यह स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं कि वे गाधीवादी नीति से गिर गये हैं या वे गाधीवाद को समझते नहीं। जनता जो शोषण और दुर्भाग्य भुगत रही है, वे गाधीवाद के मूल, प्रयोजन, पूंजीवाद के अधिकारों की रक्षा और उसे खुल खेलने का पूरा अवसर देने की नीति का अनिवार्य परिणाम है। यह बात दूसरी है कि मश्रुवाला और कृपलानी अपनी सद्भावनाओं के कारण गाधीवाद से कुछ और ही आशा लगाये बैठे थे। सद्भावनाओं के जोर मे बबूल में आम नहीं फल सकते इसी प्रकार अन्तर-विरोधों की अवस्था में पहुँच चुके पूंजीवाद के रक्षक और समर्थक गाधीवाद का परिणाम जनता की मुक्ति हो ही नहीं सकती। इस रामराज्य के लिये कांग्रेसी नेता गाधीवादी राजनीति की सफलता का ही दावा करते हैं।

स्वय गाधी जी के शब्दों में गाधीवाद का परिचय इस प्रकार है "मेरा यह दावा भी नहीं कि मैंने किसी नये तत्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया। मैंने तो जो शाश्वत सत्य है, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रति दिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से उतारने का प्रयास मात्र किया है।" गाधी जी की उपरोक्त बात की समीक्षा करते समय, उनके विनय के प्रति यथोचित आदर करके भी यह सत्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य समाज परिवर्तनशील है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य समाज के जीवन निर्वाह के ढंग सदा आज जैसे ही नहीं थे और न सामाजिक व्यवहार और न्याय के सम्बन्ध में धारणायें ऐसी ही थी।

समाज की परिस्थितियां बदलती रहती है। परिस्थितियों के कारण व्यवस्था में परिवर्तन आता है। व्यवस्था की रक्षा करने वाली धारणाओं में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है क्योंकि एक परिस्थिति और व्यवस्था

की धारणायें दूसरी प्रकार की परिस्थितियों और व्यवस्था के अनुकूल नहीं हो सकती। परन्तु गाधी जी का कहना है—"मैने किसी नये तत्त्व या सिद्धात का आविष्कार नहीं किया है। मैंने तो जो शाश्वत सत्य है उनको अपने (अर्थात मनुष्य समाज के) नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर (अर्थात समाज के जीवन के वर्तमान ढंग और आधुनिक समस्याओं पर) अपने ढग से (अर्थात अपने व्यक्तिगत विश्वास और धारणा के अनुसार) उतारने का प्रयास मात्र किया है।" इसका अर्थ यह होता है कि समाज की वर्तमान परिस्थितियों मे गाधी जी को सत्य अहिंसा और न्याय की परम्परागत धारणायें ठीक से पैठती और सटती दिखाई नही दे रही थी। ऐसी अवस्था मे एक मार्ग तो यह हो सकता था कि सत्य-अहिसा और न्याय की परम्परागत धारणाओं को, जो कि पैदावार के साधनों के व्यक्तिगत रूप से उपयोग किये जाने के समय उन साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार की रक्षा के प्रयोजन से बनायी गयी थी आज की बदली हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों मे, जब कि पैदावार के साधनों का उपयोग सामाजिक और सामूहिक रूप से हो रहा है, इन साधनों को सामाजिक और सामूहिक स्वामित्व मे लाने की धारणा के अनुकूल बदल दिया जाये। गाधीवाद को यह स्वीकार नही, वह सत्य-अहिसा के शाश्वत रूप मे परिवर्तन नही सह सकता अर्थात् स्वामी श्रेणी के अधिकारों पर कोई आच नही आने देना चाहता।

दूसरा मार्ग हो सकता है, परम्परागत सत्य-अहिसा और न्याय की धारणा को मुख्य मान कर, उन्हे शाश्वत बनाये रखने के लिये, समाज मे आने वाले आर्थिक परिवर्तनों को रोकने का यत्न किया जाय। गाधी जी ने परम्परागत सत्य-अहिसा की धारणा को शाश्वत मान लिया है और अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर, अर्थात् समाज की बदल चुकी परिस्थितियों मे उस शाश्वत सत्य-अहिसा के बन्धन कायम रखने के सुझाव दिये है। यही गाधीवाद का मूल तत्त्व है। गाधी जी ने पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार और स्वामित्व की व्यवस्था को शाश्वत व्यवस्था मान कर इस व्यवस्था की रक्षा करने के लिये बनाये गये नियमों को शाश्वत सत्य-अहिसा और न्याय मान लिया है। औद्योगिक विकास के कारण समाज के परम्परागत सबधों और नियमों मे परिवर्तन की माग को वे स्वीकार नही करते। वे उन्हे असत्य-

हिंसा और अन्याय जान पड़ती है। गांधीवाद सत्य, अहिंसा और न्याय को ईश्वर का अंश और प्रेरणा बताता है। ईश्वर शाश्वत या अपरिवर्तनशील है और मनुष्य के निर्णय से परे है। सत्य, अहिंसा की धारणाओं को शाश्वत और अपरिवर्तनशील ईश्वर का अंश बताने का प्रयोजन यही होता है कि सत्य, अहिंसा की धारणा में परिवर्तन की बात न सोची जाये।

गांधीवादी सत्य-अहिंसा और भौतिक संघर्ष

मनुष्य-समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न समाज के जीवन की रक्षा करना है। समाज का जीवन व्यक्तियों की जीवन रक्षा के लिये आवश्यक पदार्थों के उत्पन्न करने पर निर्भर करता है। समाज जिस ढङ्ग से और जैसे साधनों से अपने जीवन की रक्षा के लिये आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार की व्यवस्था समाज में होती है। समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं की पैदावार समाज के लोगों के परस्पर सहयोग से होती है। व्यवस्था का प्रयोजन समाज के लोगों के परस्पर सहयोग को नियमित रूप से चलाते रहना ही है। समाज के लिये आवश्यक पदार्थों को पैदा करना एक भौतिक प्रयोजन है। इस काम को पूरा करने के लिये समाज के व्यक्तियों में जो सहयोग और सम्बंध स्थापित होते हैं वे सम्बंध भी भौतिक या आर्थिक होते हैं। समाज के लोगों के इन पारस्परिक भौतिक सम्बन्धों की रक्षा के लिये ही समाज में व्यवस्था कायम की जाती है। समाज की व्यवस्था अर्थात् भौतिक सम्बन्धों के प्रति विश्वास और आस्था ही सत्य, अहिंसा और न्याय की धारणा का रूप ले लेती है।

सत्य, अहिंसा की धारणा समाज के भौतिक कल्याण और सुव्यवस्था की साधन है और सत्य-अहिंसा की रक्षा का प्रयोजन समाज की सुव्यवस्था और भौतिक कल्याण और विकास ही है। गांधीवाद सत्य-अहिंसा की रक्षा को बहुत महत्व देता है और इस उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के संघर्ष में न फँस कर आध्यात्मिक संतोष पाने का यत्न करना बताता है। गांधी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' जिसका उद्देश्य हिन्दुस्तान के लिये स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग और इस देश के लिये उचित स्वराज्य के रूप पर विचार करना था, स्वराज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"हमें संसार के लोभ को कम और परलोक के लोभ को

अधिक ध्यान करना चाहिये।"* स्वराज्य और सत्य-अहिंसा की ऐसी गाधीवादी व्याख्या समाज के उस भौतिक या सामारिक कल्याण के उद्देश्य की उपेक्षा करने का उपदेश देती है, जिसे प्राप्त करने के लिये ही समाज की व्यवस्था और सत्य-अहिसा की धारणा जन्म लेती है। गाधीवादी दर्शन के अनुसार उद्देश्य को गौण और उस उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन मुख्य बना दिये जाते हैं और सत्य, अहिंसा की कसौटी भी भौतिक यथार्थ न रह कर केवल विश्वास और कल्पना की वस्तु ही बन जाते हैं।

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष या संसार के लोभ का व्यवहारिक अर्थ क्या है? जीवन रक्षा के लिए आवश्यक पदार्थों को पाने के साधनों और अवसर के लिए सर्वसाधारण लोगों की मॉग ही संसार का लोभ या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष है। सर्वसाधारण लोगों के अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की माग करने से हिसा या संघर्ष क्यों होता है? क्योंकि समाज मे जीवन रक्षा के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के जितने साधन है उन पर समाज के कुछ लोगों (एक श्रेणी) ने अधिकार जमा लिया है। यह श्रेणी समाज के पैदावार के साधनों का उपयोग, पूरे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न कर अपने स्वार्थ को मुख्य लक्ष्य मान कर करती है। सर्वसाधारण के हाथ मे जीवन रक्षा के साधन और अवसर न होने के कारण उन की भौतिक या सासारिक आवश्यकतायें पूरी नहीं हो सकती और न उन्हे सन्तोष मिल सकता है। साधनहीन सर्वसाधारण लोगों का अपने जीवन की रक्षा के लिए अवसर और साधनों की मॉग का अर्थ है कि यह लोग अपने जीवन की रक्षा के लिए पैदावार के साधनों से श्रम कर के आवश्यक पैदावार कर सकें या समाज के पैदावार के साधनों पर केवल गिने चुने लोगों का ही एकाधिकार जमा कर और सर्वसाधारण जनता को साधनहीन वना कर न रखा जाय। इसी वात को दूसरे शब्दों मे समाज के पैदावार के साधनों का समाजीकरण या समाज भर की सम्पत्ति वना देना कहा जाता है। जिसे सामाजिक हित के दृष्टिकोण से सत्य-अहिंसा का रूप कहा जाना चाहिये।

---

* "हिन्द स्वराज्य" चतुर्थ हिन्दी सस्करण, पृ० ३३

समाज के पैदावार के साधनों के समाजीकरण का यह अर्थ नहीं कि जो लोग आज साधनहीन हैं वे ही सब साधनों के मालिक बन जाय और जो लोग आज साधनों के मालिक हैं, वे साधनहीन बना दिये जाय। हां, इसका यह अर्थ जरूर है कि केवल साधनों के मालिकों की छोटी सी श्रेणी ही समाज के पैदावार के साधनों और पैदावार की मालिक न बनी रहे। इसका अर्थ समाज मे पैदावार के लिए मेहनत करने वाले सभी लोगों के लिए पैदावार के साधनों का उपयोग कर अपनी आवश्यकता पूरी करने का समान अवसर और अधिकार हो जायगा। पैदावार के साधनों के समाजीकरण की मांग को गांधीवाद भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संघर्ष और संसार का लोभ बताता है और इस मांग को श्रेणी-संघर्ष की हिंसा और सत्य-अहिंसा का शत्रु मानता है।

गांधीवादी सामाजिक आदर्श

भारत के लिए आदर्श स्वराज या राजनैतिक सुव्यवस्था के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करते हुए गांधीजी ने अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज्य" में कहा है—"अमीरी अमीर का सुखी नहीं बना सकती, न गरीबी ही गरीब के दुख का कारण है।" * इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि व्यक्तियों और समाज के सुख-दुख के कारण सांसारिक साधन नहीं बल्कि कुछ और बात है। गांधी जी सम्पत्ति के मालिक और साधनहीन दोनों ही श्रेणियों को संसार का लोभ छोडने का आध्यात्मिक उपदेश देते हैं। आध्यात्म के नाम पर अमीर को अधिक धन समेटने की इच्छा न करने और गरीब को अपनी अवस्था से सन्तुष्ट रहने के लिये दिए गये इस उपदेश का व्यवहारिक अर्थ क्या होता है? गरीब या साधनहीन को दुख इसलिए नहीं होता कि अमीर सुख भोगता है बल्कि इसलिए कि गरीब या साधनहीन के बहुत श्रम करने पर भी उसकी आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं। इसका कारण यह है कि साधनहीन को उसके श्रम का फल नहीं मिल पाता। गांधीवाद साधनहीनों को अपने दुख के इस कारण को भुला देने का उपदेश देता है।

साधनहीन सर्वसाधारण की समस्या अमीरों या साधनों के स्वामियों के सन्तोष कर लेने और अधिक धन न बटोरने या उन के स्वयं

* "हिन्द स्वराज्य" पृ० ५०

कम भोग करने से हल नहीं हो सकती। समस्या का मूल तो साधन-हीनों के लिए साधनों से पैदावार कर सकने की स्वतंत्रता न होने या साधनों के स्वामित्व की व्यवस्था मे है। गांधीवाद अमीर को लोभ या ऐश्वर्य के मद में अंधे होकर साधनहीन को उत्तेजित न करने का उपदेश देता है परन्तु पैदावार के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति बना साधनहीनों को जीवन रक्षा के लिए अवसर और स्वतन्त्रता देने का नही। साधनहीन श्रेणी को संसार का लोभ न करने के उपदेश का प्रयोजन इस श्रेणी को जीवन निर्वाह के साधनों को अपनाने के प्रयत्न से रोके रहना है। दोनों श्रेणियों के सन्तोष का अर्थ है समाज की आर्थिक व्यवस्था को यथावत बनाये रखना और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार की व्यवस्था की रक्षा करना। गाधी जी समस्या का हल सुझाते है—"करोडों को तो गरीब ही रहना है इसलिए उन्हे भोग वासना छोड़नी चाहिए।"* समाज से मौजूद आर्थिक विषमता को बनाये रखना ही गाधीवादी सत्य-अहिंसा का आदर्श और प्रयोजन है।

इस आदर्श का स्पष्ट अर्थ है कि समाज मे बहुसख्या को जीवन निर्वाह के साधनों के अभाव मे पीड़ित हो कर सतुष्ट रहना चाहिये। इस प्रकार के आध्यात्मिक उपदेश का सासारिक प्रयोजन यही होगा कि समाज में जिस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था आज है, यथावत बनी रहे।

आध्यात्मिकता का सांसारिक उद्देश्य

गाधीवाद "परलोक के लोभ" या आध्यात्म के नाम से जिस विचार-धारा या शाश्वत सत्य-अहिंसा का उपदेश देता है उसका प्रयोजन वर्तमान सामन्तवादी और पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था या पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रणाली की रक्षा करना ही है। आध्यात्म का अर्थ है —मनुष्य के भौतिक ज्ञान से जाने जा सकने वाली शक्तियों और मनुष्य-समाज की पहुँच से परे किसी अजर, अमर शाश्वत अभौतिक शक्ति मे विश्वास कर मनुष्य जीवन का लक्ष उस शक्ति के सामीप्य से सफल बनाने की चेष्टा करना और उस शक्ति में लीन हो इस संसार के बंधनों से छूट जाना। इस अभौतिक शक्ति को ही ईश्वर या भगवान का नाम दिया जाता है। आध्यात्मवाद है मनुष्य-

---

* "हिन्द स्वराज्य" पृष्ट ५०

समाज तथा समाज की व्यवस्था, सत्य-अहिंसा को ईश्वर का विधान मान कर इन्हे भी ईश्वर के समान ही मनुष्य के निर्णय से परे अनादि, अनंत कभी न बदलने वाला मान लेना। समाज की व्यवस्था और सम्बन्धों को मनुष्य और संसार का निर्माण करने वाली शाश्वत शक्ति का विधान मान कर उनमें किसी परिवर्तन की इच्छा और आशा न करना। व्यवहारिक दृष्टि से यह बात स्पष्ट है कि आज की अवस्था में जिस प्रकार परिवर्तन (पैदावार के साधनों के समाजीकरण) की माग साधनहीन वर्ग की जीवन रक्षा की माँग है उसी प्रकार परिवर्तन का विरोधी गाधीवादी आध्यात्म भी समाज की व्यवस्था को, पैदावार के साधनों को यथावत अर्थात् व्यक्तिगत स्वामित्व और उत्तराधिकार की प्रणाली पर कायम रखने का प्रयत्न है। जिसका अर्थ सामन्तवादी और पूंजीवादी प्रणाली की रक्षा करना ही है।

गाँधीवादी आध्यात्म का इतिहासिक रूप

मनुष्य-समाज के कुछ ही वर्ष के अनुभवों और भिन्न-भिन्न देशों के समाजों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर हम अनिवार्यत. इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य-समाज जैसे साधनों से और जैसी अवस्थाओं में अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुयें पैदा करता है या प्राप्त करता है उसी के अनुकूल समाज की व्यवस्था होती है। समाज की व्यवस्था के अनुकूल ही इस समाज की सत्य-अहिंसा और ईश्वरीय न्याय की धारणायें भी होती हैं। मनुष्य-समाज के जीवन निर्वाह के साधनों में विकास और परिवर्तन हो जाने पर समाज के जीवन का ढङ्ग और समाज के व्यक्तियों के परस्पर सहयोग के नियम भी बदल जाते हैं और इन सम्बन्धों को मान्यता देने वाली सत्य-अहिंसा और ईश्वरीय न्याय सम्बन्धी धारणाओं मे भी परिवर्तन आ जाता है। समाज जिस समय जिस व्यवस्था और सत्य-अहिंसा की धारणा को स्वीकार करता रहा है उस समय उसी व्यवस्था को ईश्वरीय न्याय भी मानता रहा है। समाज की व्यवस्था और निर्वाह के नियमों पर ईश्वर की मोहर लगा देने की कला का नाम ही आध्यात्म है।

आध्यात्म और धर्म विश्वास का प्रयोजन समाज की व्यवस्था को दृढ़ता और स्थायित्व देना ही रहा है। आध्यात्म के इस प्रभाव के बावजूद समाज की भौतिक परिस्थितिया अर्थात् जीवन निर्वाह के भौतिक साधनों में परिवर्तन हो जाने पर समाज की व्यवस्था सत्य, तथा

अहिसा और ईश्वरीय न्याय की धारणा और ईश्वर सम्बन्धी कल्पना तथा विश्वास अर्थात उसका आध्यात्मिक ज्ञान और विश्वास भी बदल जाते रहे हैं। आज गाधीवाद के आध्यात्म का रूप वैसा ही नही जैसा कि मनुष्य-समाज की आदिम अवस्था में था। आज भी संसार के अनेक भागों में आध्यात्म का रूप रग और सीमायें दूसरी ही है। आध्यात्म स्वयम् समाज के ज्ञान और परिस्थितियों क अनुसार बदलता रह कर भी प्रत्येक अवस्था मे सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता का साधन बनता रहा है। गाधीवाद भी आध्यात्म अथवा शाश्वत सत्य-अहिंसा के नाम पर समाज की आर्थिक व्यवस्था को परम्परागत अर्थात सामान्तकालीन और पूजीवादी ढङ्ग पर यथावत रखने का प्रयत्न ही है।

आध्यात्म का आधार कभी न बदलने वाली वास्तविकता नहीं। आध्यात्म का आधार मनुष्य के ज्ञान के आधार पर उसकी कल्पना और विश्वास ही है। आध्यात्म की आधार शिला या विश्वास है कि मनुष्य के जीवन का मार्ग मनुष्य के विचार और आदर्श निश्चित करते है। मनुष्य के विचार और आदर्श उसकी भौतिक सासारिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र है और मनुष्य और संसार का निर्माण करने वाली शक्ति की प्रेरणा से निश्चित होते है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य इन्ही आदर्शों को पूरा करना है। दूसरी ओर इतिहास के निर्विवाद अनुभवों से प्रमाणित वैज्ञानिक भौतिकवाद के मत से व्यक्ति और समाज मुख्य है। समाज की विचाराधारा, आदर्श और सत्य-अहिंसा तथा ईश्वरीय न्याय की धारणा समाज के जीवन निर्वाह और विकास के प्रयत्नों और सघर्ष के परिणाम में स्वयम् समाज द्वारा ही बनाये जाते है। समाज के जीवन निर्वाह के साधनों मे परिवर्तन हो जाने पर समाज के व्यक्तियों के जीवन के ढ ग, विचारों और उन के परस्पर-सम्बन्धों तथा व्यवस्था आदि मे भी परिवर्तन हो जाता है। इनसे उत्पन्न होने वाली सत्य-अहिंसा की धारणा का बदल जाना भी आवश्यक होता है। सत्य की कसौटी मनुष्य का विश्वास नही बल्कि भौतिक वास्तविकतायें हैं। मनुष्य के विचारों का आधार उसकी भौतिक परिस्थितिया और समाज की अवस्था ही है। यह निष्कर्ष मनुष्य-समाज के इतिहास की भौतिक वास्तविकताओं के अध्ययन से प्रमाणित होता है। इस विचारधारा का मूल तत्व है कि मनुष्य-समाज अपने भाग्य का विधाता है और समाज की कोई भी व्यवस्था या सत्य अहिंसा

की धारणा शाश्वत नहीं है। विकास का क्रम जारी रहने पर प्रत्येक व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य किसी अदृश्य, अज्ञेय शक्ति के हाथ का खिलौना नहीं बल्कि अपने भाग्य और भविष्य का विधाता है।

गांधीवाद के मत मे वैज्ञानिक भौतिकवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद का मार्ग भौतिक संघर्ष और हिंसा का मार्ग है, जिससे समाज मे कभी शान्ति नहीं हो सकती। गांधीवाद के अनुसार व्यक्ति और समाज का कल्याण अचूक ईश्वरीय ज्ञान या आध्यात्मिक मार्ग से ही हो सकता है इसलिए आवश्यक है कि गांधीवादी दर्शन अर्थात गांधीवाद द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की व्याख्या, मनुष्य जीवन के उद्देश्य, ईश्वर का साक्षातकार शाश्वत सत्य-अहिंसा, परलोक चिन्तन, सेवा धर्म और त्याग आदि का विश्लेषण इतिहास के अनुभव और वर्तमान सामाजिक वास्तविकताओं के आधार पर किया जावे।

२

गांधीवादी दर्शन का आधार

दर्शन या फिलासफी विचारों के उस क्रम का नाम है जिस से व्यक्ति और समाज के जीवन के लिए आदर्श और नियम निश्चित करने में सहायता मिलती है। गाधीवाद व्यक्ति और समाज के जीवन के आदर्श और नियम निश्चित करने के लिए और सत्य-अहिंसा क्या है इस बात पर विचार करने से पूर्व यह निश्चय कर लेना चाहता है कि मनुष्य संसार में पैदा ही क्यों हुआ? या मनुष्य को बनाया ही क्यों गया है? अर्थात् मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है? गाधीवाद के मत से—"परमेश्वर का साक्षात्कार जीवन का एक मात्र योग्य ध्येय है। जीवन के दूसरे सब कार्य यह ध्येय सिद्ध करने को ही होने चाहिये।" *

यह मान कर कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य परमेश्वर से साक्षात्-कार करना है, गाधीवाद सत्य-अहिंसा का रूप ऐसा निश्चित करना चाहता है जिसके अनुसार मनुष्य के शारीरिक तथा सासारिक संतोष को विशेष महत्व न देकर व्यक्ति और समाज को परमेश्वर का साक्षा-त्कार करने अथवा परलोक का लोभ पूरा करने मे सहायता मिले। गांधीवाद के अनुसार समाज की व्यवस्था का आदर्श 'रामराज्य' है। 'रामराज्य' का लक्ष्य भी यही है कि समाज के लोगों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से परमेश्वर का साक्षात्कार करने के उद्देश्य मे सहायता मिल सके। गान्धीवाद समाज की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं को हल करते समय परमेश्वर के साक्षात्कार के उद्देश्य को ही मुख्य समझता है। समाज के लोगों की भौतिक समृद्धि और सतोष गान्धीवाद का उद्देश्य नही है। व्यक्ति और समाज का लक्ष्य भौतिक

* गाधी विचार दोहन' पृष्ट १

समृद्धि समझना गान्धीवाद के अनुसार 'शैतान सभ्यता' है। इस सभ्यता में मनुष्य धर्म और ईश्वर को भूल जाता है। * समाज की व्यवस्था या व्यक्ति के प्रयत्नों का लक्ष्य भौतिक समृद्धि या सन्तोष को समझना गान्धीवाद के अनुसार मनुष्य-जीवन के उद्देश्य से भटक कर विनाश के मार्ग पर लुढ़क जाना है।

गान्धीवाद के अनुसार मनुष्य-जीवन का उद्देश्य 'परमेश्वर से साक्षात्कार' स्वीकार कर लेने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि परमेश्वर से साक्षात्कार का अर्थ क्या है? परमेश्वर के सम्बन्ध में गान्धीवाद की धारणा क्या है? गान्धीवाद परमेश्वर की क्या पहचान और परिभाषा बताता है? ऐसे विश्वासों और धारणाओं का मूल आधार और प्रयोजन क्या है? व्यक्ति और समाज के जीवन पर इन धारणाओं का क्या प्रभाव पड़ता है?

परमेश्वर के सम्बन्ध में गांधीवादी धारणा

परमेश्वर या भगवान के अस्तित्व का विश्वास मनुष्य समाज के इतिहास में बहुत पुरानी बात है। भगवान के सम्बन्ध में किसी भी समाज के विश्वास सदा एक से नहीं रहे, आज भी इस सम्बन्ध में सभी लोगों की कल्पनायें एक सी नहीं हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में अनेक लोगों के विश्वासों और गांधीवाद द्वारा बताये गये भगवान की परिभाषा में बहुत भेद है। भगवान के सम्बन्ध में अनेक धारणायें और परिभाषायें देख कर शंका हो सकती है कि क्या भिन्न-भिन्न समाजों के अपने अलग-अलग अनेक भगवान हैं? कुछ लोग एक नहीं अनेक ईश्वरों में या संसार का कल्याण और नियन्त्रण करने वाली अनेक दैवी शक्तियों में अर्थात बहुईश्वरवाद (Polytheism) में विश्वास करते हैं। गांधी-वाद का कहना है कि भगवान अनेक नहीं एक ही है।

यह कैसे मान लिया जाय कि भगवान के रूप गुणों और कार्य के सम्बन्ध में अनेक लोगों के विश्वास गलत हैं और गांधीवाद का विश्वास ही ठीक है। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है क्योंकि गांधीवाद का दावा है कि गांधी जी के उपदेशों का आधार ईश्वर की प्रेरणा है। गांधीवाद जिस सत्य-अहिंसा का उपदेश देता है वह भगवान के समान ही भूल-चूक से परे है। यह सत्य-अहिंसा संसार के आरम्भ से चली आ

* "हिन्द स्वराज्य" पृष्ठ ५०—५१

2519

रही है और अनन्त काल तक कायम रहेगी। भगवान की प्रेरणा और न्याय को पहचानने का दावा केवल गांधीवाद ही नही दूसरे लोग भी करते हैं। भगवान के रूप को पहचानने और उस की प्रेरणा पाने का दावा करने वाले लोगों के विचारों और उपदेशों मे भेद और विरोध भी पाया जाता है। गांधीवाद के उपदेश से 'मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ईश्वर का साक्षातकार है।' जीवन के उद्देश्य को पूरा करने के यत्न अर्थात भगवान् के साक्षातकार करने के यत्न से पहले गांधीवादी परिभाषा के अनुसार भगवान को पहचानना आवश्यक है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय समय पर भगवान के नाम पर अनेक मिथ्याविश्वासों का समर्थन करके मनुष्यों के उचित तर्कों और शंकाओं को दबा दिया गया है और आज भी ऐसा किया जा रहा है। परमेश्वर या भगवान के अस्तित्व में विश्वास रखने वाले तथा उस भगवान के निर्देश और न्याय के अनुसार जीवन बिताने मे विश्वास रखने वाले सभी लोगों की धारणाओं के अनुसार इस संसार और इस संसार के सब जीवों को भगवान ने बनाया है और वही सम्पूर्ण ससार का मालिक है। जीवों और मनुष्य के लिए क्या उचित है और क्या अनुचित है, यह निश्चय भी भगवान ही करता है। उचित या अच्छा काम करने पर भगवान जीवों और मनुष्यों को सुख देता है और अनुचित या बुरा काम करने पर भगवान मनुष्यों को दुख और दण्ड देता है।

भगवान कोई भौतिक या पार्थिव वस्तु नही है। गांधीवाद भी कहता है कि भगवान मन और वाणी से परे है। साधारणत जीव और मनुष्य अपने दुखों को दूर कर संतोष पाने का उपाय स्वयम ही करता है परन्तु जब किसी दुख से बचाव या सुख का पा लेना मनुष्य के अपने सामर्थ्य में नही जान पड़ता तो उसे भगवान की इच्छा या न्याय का परिणाम मान लिया जाता है। मनुष्यों के सुखों-दुखों का विधायक और निर्णायक होना ही भगवान की शक्ति अनुभव की जाने का कारण है और यही भगवान के अस्तित्व का प्रमाण भी माना जाता है।

भगवान के अस्तित्व और उसके शासन मे विश्वास रखने वाले लोग अपने विश्वास और ज्ञान के अनुसार भगवान के रूप और उसकी आज्ञाओं के सम्बन्ध मे कल्पना और धारणा बना लेते हैं। मनुष्य अपनी कल्पनाओं और धारणाओं के अनुसार भगवान को प्रसन्न कर

सुख पाने और दुख से बचने का यत्न भी करते हैं। साधारणतः सामन्तवादी और पूंजीवादी समाज मे विश्वास किया जाता है कि भगवान एक ही है। संसार को बनाने वाले और संसार के मालिक अनेक नहीं माने जा सकते। भगवानों की संख्या अनेक मान लेने से भगवान को सबसे बड़ा नहीं कहा जा सकेगा और अनेक भगवान मान लेने पर सम्पूर्ण समाज का शासन एक सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकेगा। भगवान की शक्ति से बराबरी का दावा करने वाले अनेक हो जायेंगे। भगवान को एक मान कर भी भगवान के रूप और उसे सन्तुष्ट करने की धारणाओं के सम्बन्ध में अनेक विश्वासों के उदाहरण हम अपने नित्य जीवन मे, अपने पास पड़ोस मे ही देख सकते हैं। एक ही भगवान के सम्बन्ध मे यह धारणायें एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं।

संसार की मालिक (भगवान) शक्ति को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ लोग पीपल के पेड पर पानी चढ़ाते हैं, कुछ लोग चौराहे पूजते हैं, कुछ कब्रों की पूजा करते है। कुछ लोग संसार की मालिक शक्ति को सन्तुष्ट कर अपना दुख दूर करने के लिए उसके नाम पर बकरों और भैंसों का रक्त बहा देते है। कुछ लोग उसी भगवान को प्रसन्न करने के लिए संसार के किसी भी जीव का मारना अनुचित समझते हैं। कुछ लोगों के विश्वास के अनुसार मनुष्य के जीवन पर अनेक देवी देवताओं का प्रभाव है। ऐसे लोग शीतला रोग से मुक्ति पाने के लिए एक देवी की पूजा करते हैं, सांप और विषैले जीवों के भय से बचने के लिए दूसरे देवता की, खेतों में अच्छी फसल होने की आशा से किसी अन्य देवता की पूजा करते है, सन्तान न होने पर सन्तान की आशा से किसी और ही देवता को प्रसन्न करना आवश्यक समझते हैं। एक समय था जब मनुष्य को सबसे मूल्यवान जीव समझ कर अपने देवता और भगवान को सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य की भी बलि दी जाती थी। वैदिक काल में इस प्रकार की बलि को 'नरमेध' कहा जाता था। आज भी संसार के कुछ भागों मे, जहाँ भौतिक सभ्यता का प्रभाव अभी तक नहीं पहुंचा है और मनुष्य भगवान द्वारा पैदा की गई अवस्था में ही है, लोग अपने देवता या भगवान को प्रसन्न करके युद्ध मे सदा विजय पाने के लिए, युद्ध मे हारे हुए अपने शत्रुओं को भगवान की भेंट कर बलि चढा देते हैं और फिर भगवान के इस प्रसाद को खा लेना अपनी अपनी शक्ति बढ़ा लेने का उपाय मानते हैं। उनके विश्वास के अनुसार ईश्वर की यही प्रेरणा और उनका धर्म है। ऐसे लोग अपनी

कल्पना या विश्वास के भगवान में उतना ही दृढ़ विश्वास रखते हैं जितना कि गान्धीवादी अपनी कल्पना और विश्वास के भगवान में।

भगवान के सम्बन्ध मे ऊपर जिन विश्वासों और कल्पनाओं की बात कही गयी है उन्हे गान्धीवाद अज्ञान और भ्रम समझता है। हम गान्धीवाद के इस विचार से सहमत हैं। यदि हम मान लें कि जगली लोग अथवा भौतिक विज्ञान से अपरिचित लोग अपने अज्ञान के कारण भगवान के सम्बन्ध में बेसिर-पैर की धारणायें बना लेते हैं तो इसका अर्थ होगा कि मनुष्य अपने भौतिक ज्ञान की सीमा के अनुसार ही भगवान के सम्बन्ध में कल्पनायें और धारणायें बनाता है। मनुष्य के लिए भगवान का अस्तित्व और भगवान के सम्बन्ध मे मनुष्य की धारणायें मनुष्य के भौतिक ज्ञान पर ही निर्भर करती है। यदि मनुष्य भगवान के सम्बन्ध मे कोई कल्पना न करे या स्वयम कोई धारणा न बनाये तो मनुष्य के लिए भगवान का कोई अस्तित्व न होगा।

मनुष्य-समाज का इतिहास और भिन्न-भिन्न अवस्था मे रहने वाली अनेक जातियों की अवस्थाओं का अध्ययन और तुलना इस बात की साक्षी है कि जिन लोगों का जैसा भौतिक ज्ञान होता है, जिस समाज की जैसी परिस्थितिया, जैसी आवश्यकतायें और जैसी व्यवस्था रही है उसी के अनुसार वह समाज भगवान के रूप और भगवान की आज्ञाओं को निश्चित कर लेता था। ज्यों-ज्यों मनुष्य के उपयोग में आने वाले भौतिक साधनों का विकास हो कर उस का भौतिक ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों भगवान के रूप और भगवान की शक्ति के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पना मे भी परिवर्तन और विकास आता गया है। ऐसे लोग जो प्राकृतिक या भौतिक पदार्थों आग, जल, वायु आदि के नियम और भिन्न-भिन्न रोगों के कारण नही जानते और इनसे भयभीत रहते है, इन पदार्थों और दुखद अनुभवों के सामने अपने आपको असमर्थ पाते हैं, इन पदार्थों को ही अपना भगवान और भाग्य विधाता मान कर इनकी पूजा करते हैं। हमारे अपने समाज में भी अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित लोग आज भी ऐसा करते है। भौतिक ज्ञान से हीन अशिक्षित लोग गाधीवाद या आध्यात्मवादियों द्वारा बताये गये रूप, रंग रसहीन, मन वाणी से न पहचाने जा सकने वाले सूक्ष्म, केवल मनुष्य के ज्ञान मे सीमित भगवान की कल्पना नहीं कर सकते। गान्धीवाद के आध्यात्मिक मार्ग मे ससार का कल्याण करने वाले लोगों के और बड़े से बड़े वैज्ञानिक

लोगों के पूर्वज भी किसी समय वरुण (जल) वायु (हवा) अग्नि (आग) और इन्द्र बादल आदि की प्रसन्नता पर ही मनुष्य-समाज का कल्याण निर्भर समझते थे।) इन शक्तियों की पूजा कर इन शक्तियों से रक्षा की प्रार्थना की ऋचायें वेदों में अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं। हमारे वैदिक काल के पूर्वज इन सब भौतिक पदार्थों या शक्तियों को ही मनुष्य का भाग्य विधाता मानते थे। वैदिक साहित्य इस बात का साक्षी है कि हमारे पूर्वज बहुत से देवताओं या ईश्वरों में विश्वास रखते थे। इसी प्रकार सभी दूसरी सभ्यताओं के पूर्वज भी एक समय जड़ पूजक या बहुईश्वरवादी थे। अभिप्राय यही है कि ईश्वर के सम्बन्ध में मनुष्य के विश्वास और धारणा का आधार कोई निर्विवाद, विज्ञान से प्रमाणित होने वाली भौतिक वास्तविकता नहीं, यह केवल मनुष्य-समाज की परिस्थितियों और उसके भौतिक ज्ञान के आधार पर विकसित और परिवर्तित होने वाली कल्पना ही है।

मनुष्य-समाज के सामूहिक अनुभव के आधार पर, समाज के जीवन निर्वाह के साधनों के विकास और भौतिक ज्ञान की बढ़ती के परिणाम स्वरूप ही सम्पूर्ण संसार और सम्पूर्ण भौतिक शक्तियों के स्वामी एक "अनादि, अनन्त सदा एक रूप-रस रहने वाले, विश्व के आत्मा रूप अथवा आधार रूप और उसके कारण पूर्ण चेतन और ज्ञान स्वरूप" * भगवान की कल्पना का विकास हुआ है। ज्यों-ज्यों संसार और उसके रहस्यों के सम्बन्ध में मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया, त्यों-त्यों भगवान का अभाव अनुभव करके भगवान के सम्बन्ध मे मनुष्य की कल्पना और सूक्ष्म होती गई। भगवान के सम्बन्ध मे कल्पना, धारणा और व्याख्या का आधार भी समाज की तत्कालीन परिस्थितियाँ और आवश्यकतायें होती हैं। जिस समाज का भौतिक ज्ञान जितना बढ़ जाता है उस समाज का भगवान भी उतना ही सूक्ष्म, उलझा हुआ और पकड़ से दूर हो जाता है। भगवान की कल्पना का रूप बदल जाने पर भी प्रयोजन सदा एक ही रहता है। भगवान के रूप और शक्ति के सम्बन्ध में मनुष्य की कल्पना और धारणा उस के भौतिक ज्ञान पर ही निर्भर करती है। इस बात की साक्षी केवल सुदूर का इतिहास ही नहीं बल्कि अनेक समाजों की वर्तमान अवस्था का अध्ययन भी है। हमारे देश की अधिकांश जनता आज भी अनेक रोगों का

---

* गांधीवाद के अनुसार परमेश्वर की व्याख्या गांधी 'विचार दोहन' पृष्ठ ४

शिकार होने पर अपनी रक्षा का उपाय उन रोगों के देवताओं की पूजा करना ही समझती है क्योंकि वे लोग इन रोगों क भौतिक कारण से परिचित नही। कुछ वर्ष पूर्व तक शिक्षा क अभाव में आज की अपेक्षा अधिक लोग चेचक, हैजा, प्लेग और मलेरिया के व्यापक रोगो या नदियों मे बाढ़ आ जाने को भगवान का ही प्रकोप समझते थे। यहाँ तक कि सन १६३४ में बिहार में भूकम्प आने पर गाधीजी ने इस भूकम्प का कारण अपने भक्तों और जनता को हिन्दू समाज मे अछूत कहे जाने वाले लोगों के साथ उच्च वर्ग के समझे जाने वाले हिन्दुओं का दुर्व्यवहार ही बता दिया था। उन दिनों बृटिश सरकार अछूतों के चुनाव क्षेत्र हिन्दुओं से अलग कर राजनैतिक रूप से अधिक सचेत उच्चवर्ण हिन्दुओं की मत सख्या कम करने का यत्न कर रही थी। गाधीजी अछूतोद्धार के कार्यक्रम द्वारा अछूतों को हिन्दुओं से मिलाये रखने का यत्न कर रहे थे। अपने कार्यक्रम में सहायता पाने के लिये गाधी जी ने भगवान के कोप की दुहाई देने मे कोई संकोच नही किया। ऐसे भूकम्प ससार के अनेक देशों में, जहाँ छूत अछूत की कोइ समस्या है ही नही, आये दिन होते रहते है। आज कॉग्रेसी सरकार महामारियो और नदियों की बाढ़ों को रोकने के लिए जनता को पाप से बचाने और धर्म करके ईश्वर को प्रसन्न करने का उपदेश नही देती बल्कि औषधियों द्वारा रोग के कीटाणुओं की 'हिंसा' कर और नदियों में बॉध लगाकर इन समस्याओं का उपाय करती है क्यों कि आज का समाज इस विषय मे भौतिक ज्ञान का विकास करके समर्थ हो गया है। आज वह अपनी रक्षा क लिये भगवान की पूजा पर निर्भर नही करता। परन्तु जनता से ईश्वर विश्वास के नाम पर वोट मागने के लिए काग्रेसी मत्री जनता को समझाते है कि ईश्वर मे विश्वास न करने वाले सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों को वोट देना उचित नही क्योंकि ईश्वर विश्वासहीन लोगो की सरकार की भगवान रक्षा नही करेंगे।

समाज और इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य के भौतिक ज्ञान का प्रकाश बढ़ने से इश्वर की कृपा और न्याय के अन्धविश्वास का अन्धकार सिमटता जाता है। मनुष्य जिन बातों को स्वयम जान लेता है उनके लिए भगवान की दुहाई नही देता, जिन्हे नहीं जानता उन्ही को भगवान की इच्छा और न्याय मान कर आत्मसमर्पण कर देता है। गान्धीवाद और आध्यात्मवाद का दावा है कि मनुष्य-समाज का

कल्याण भौतिक ज्ञान और भौतिक समृद्धि से नहीं हो सकता यह चंडाल भौतिक सभ्यता मनुष्य का नाश और पतन ही करती है। इतिहास की साक्षी और आज के भिन्न-भिन्न समाजों के भौतिक ज्ञान और उनके आध्यात्मिक ज्ञान की तुलना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य का आध्यात्मिक ज्ञान उसके भौतिक ज्ञान और भौतिक साधनों पर ही निर्भर करता है। भौतिक ज्ञान और साधनों से हीन जातियों ने कभी आध्यात्मिक ज्ञान की कल्पना भी नहीं की। भारत के अशिक्षित आदिवासियों में, या अंडेमान, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की उन जातियों में जो भौतिक ज्ञान के अभाव में अन्न पैदा करने या कपड़ा बना सकने के ज्ञान से भी हीन हैं, आध्यात्मिक ज्ञान के विकास का कोई प्रमाण नहीं मिलता। मनुष्य के भौतिक विकास के अभाव में आध्यात्मिक ज्ञान के विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस समय भारत आध्यात्मिक कल्पनाओं में दूसरे देशों से आगे था उस समय यह देश तत्कालीन मनुष्य-समाज के भौतिक ज्ञान में भी दूसरे देशों की अपेक्षा आगे ही था।

गांधीवादी ईश्वर का व्यवहारिक रूप और प्रयोजन

मनुष्य जीवन रक्षा के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से रक्षा पाने के लिये ही एक विराट शक्ति की खोज और कल्पना करता है। मनुष्य को दुख केवल भौतिक पदार्थों, जीवों और रोगों से ही नहीं होते। मनुष्य सामाजिक जीव है, और समाज के बीच रहता है। समाज की सहायता से ही उसका जीवन चलता है। मनुष्यों के परस्पर व्यवहार, व्यक्तियों के सम्बन्धों में विषमता और विशृंखला होने से भी व्यक्ति संकट और भय अनुभव करते हैं। मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के कारण समाज में होने वाले दुखों और भय का उपाय भी संसार के मालिक भगवान की शक्ति के सहारे या उसके नाम से किया जाता है। समाज में जिन नियमों का पालन करने से समाज की व्यवस्था ठीक रह सके या परस्पर दुख और भय की सम्भावना न हो, उन्हीं नियमों को मनुष्य भगवान की आज्ञा और न्याय मान लेता है। इन नियमों को निश्चित तो मनुष्य ही करते हैं परन्तु समाज में इनका पालन करवाने के लिए भगवान के नाम की शक्ति का उपयोग किया जाता है। सामाजिक कल्याण की दृष्टि से भगवान के रूप और उसके अस्तित्व में विश्वास के प्रयोजन को प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक

वोल्टेयर ने बहुत स्पष्ट और उचित ढंग से कहा है—"भगवान का विश्वास सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिये आवश्यक है। यदि भगवान नहीं है तो हमें एक भगवान गढ़ लेना चाहिये क्योंकि उसका भय समाज को व्यवस्था में रखने के लिये सबसे उपयोगी शक्ति है इसी-लिए हम भिन्न-भिन्न समाजों की परिस्थितियों और आर्थिक अवस्था के अनुसार ईश्वर के न्याय या सत्य-अहिंसा और न्याय की भिन्न-भिन्न धारणायें देखते हैं।

समाज का आधार है मनुष्यों के परस्पर सहयोग से जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करके जीवन की रक्षा करना। समाज के व्यक्तियों के ऐसे सहयोग से उत्पन्न किये गये पदार्थों द्वारा सब को समान संतोष का अवसर भी हो सकता है जैसा कि कुटुम्बों के रूप में संगठित आदिम समाज में होता था। ऐसा समाज एक ही कुनबे के समान होता था। उस समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई प्रश्न न था। समाज में जो कुछ या जितना कुछ होता था पूरे कुनबे या समाज का साझा होता था। समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सहयोग का दूसरा रूप या अवस्था ऐसी भी हो सकती है जिसमे कुछ व्यक्ति अधिक सशक्त हो जाने के कारण दूसरे व्यक्तियों को दमन से अपने वश में रखें। ऐसी अवस्था में उस समाज के व्यक्तियों का परस्पर सहयोग या समाज की व्यवस्था समाज मे शासन का अवसर और अधिकार पा लेने वाले लोगों के लिये तो आराम की व्यवस्था और दबे हुए शोषित लोगों के लिए शोषण और असंतोष की व्यवस्था होगी। जैसा कि दास प्रथा पर चलने वाले समाज मे या सामन्तवादी समाज में होता था और पूंजीवादी समाज मे आज भी है।

समाज में जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए जैसे साधन होंगे उसी के अनुसार समाज के व्यक्तियों के परस्पर सहयोग और सम्बध होंगे। इस सहयोग को स्थायी रखने के लिए उस समाज में एक व्यवस्था भी बन जायगी। समाज मे जैसी आर्थिक अवस्था और व्यवस्था होगी उसी के अनुसार वह समाज भगवान के रूप और भगवान की आज्ञाओं के सम्बन्ध में भी अपनी कल्पनायें और धारणायें बना लेगा। जब समाज में जीवन निर्वाह का ढंग या आर्थिक व्यर्वस्था कुनबों या कबीलों के रूप में होती है तो उस समाज के अगों मे होने वाले युद्ध उन अगों के कुल देवताओं और कुल

के भगवानों के भी युद्ध समझे जाते हैं। जिस समाज में छोटे-छोटे सामन्तों या जागीरदारों पर एक राजा का शासन कायम हो जाता है वह समाज, अपने सामाजिक सगठन के अनुभव से अनेक देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर एक सर्वशक्तिमान भगवान की कल्पना करने लगता है। एकछत्र व्यापक साम्राज्य का आदर्श और विचार मनुष्य-समाज में पैदा हो जाने पर एक अद्वैत, वाहिद (जिसके समान कोई नहीं) ईश्वर की कल्पना और धारणा पैदा हो जाती है। प्रत्येक अवस्था में ईश्वर के रूप, शक्ति, और न्याय की कल्पना समाज की अपनी आवश्यकताओं और व्यवस्था की धारणा के अनुसार ही होती है। समाज की व्यवस्था में परिवर्तन हो जाने पर भी उसी के अनुकूल भगवान के सम्बध में धारणायें भी बदल जाती है।

समाज या देश में राजा का विकास आदिम समाज के कुलपिता या कुलपति से हुआ है। पूरा कबीला इस कुलपिता या कुलपति का आदर करता था और उसका अनुशासन मानता था। राजा ने समाज मे उसी स्थिति पर अधिकार कर लिया जो स्थिति कबीले मे कुलपति या कुलपिता की थी इसलिये राजा को समाज या प्रजा का ,पिता समझा गया। राजा या ,शासक समाज मे शक्ति और अधिकार का प्रतीक और प्रतिनिधि था। जब समाज ने समय आने पर मर जाने वाले और किसी दूसरे राजा से हार सकने वाले राजा से बडी शक्ति और उस शक्ति के अधिकारों की कल्पना की तो उसे राजा से बडा, राजाओं का राजा भगवान मान लिया। लेकिन राजाओं के राजा भगवान के भी वही गुण बहुत बडे परिमाण में माने गये जो कि राजा या शासक के थे। राजा को भगवान की रक्षा और सहायता की आवश्यकता थी। इस लिए भगवान को ससार का पिता और संसार बनाने वाला निश्चित किया गया और राजा को भगवान द्वारा नियत अपना प्रतिनिधि। समाज मे शासक शक्ति के सम्बन्ध मे धारणा और कल्पना बदल जाने पर भगवान के सम्बन्ध मे भी समाज की कल्पना बदल जाती रही है।

जिस समय समाज की आर्थिक व्यवस्था दास प्रथा के अनुसार थी मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध की कल्पना भी स्वामी और दास के रूप मे की गई। भगवान की कल्पना सब से बडे, ससार भर के स्वामी के रूप मे की जाने लगी। समाज की आर्थिक अवस्था और शासन व्यवस्था बदल जाने पर, व्यवसायिक स्वतन्त्रता की भावना पैदा हो जाने

और सब मनुष्यों के समान होने की भावना पैदा हो जाने पर ईश्वर से सखा भाव या सब जीवों में ईश्वर का ही अंश होने की, ईश्वर के न्याय के सम्मुख सबके समान होने की कल्पना की जाने लगी। समाज की अवस्था के विकास के अनुसार विकसित होते हुए भगवान के व्यापक रूप और उसके न्याय का प्रयोजन यही रहा है कि समाज की व्यवस्था और निश्चित नियमों के प्रति मनुष्य के हृदय मे भय और आदर हो। समाज के नियमों को न मानने वालों का दमन करने के लिये शासक लोगों को मनुष्य के सामर्थ्य से बडी भगवान की शक्ति की सहायता मिले। सामाजिक व्यवस्था का आधार व्यक्तियों के परस्पर-सहयोग से समाज के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करके सामूहिक जीवन निर्वाह का प्रबन्ध करना ही है। उसे हम संक्षेप मे आर्थिक उद्देश्य कह सकते है। समाज का आधार और उद्देश्य आर्थिक होने के कारण ईश्वर के सम्बन्ध में समाज की कल्पना भी आर्थिक व्यवस्था की रक्षा का उद्देश्य ही पूरा करती है।

भावना की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व

प्रश्न यह है कि समाज की व्यवस्था और समाज मे चालू आर्थिक नियमों के समर्थन और रक्षा के लिए भगवान के निर्देशों और न्याय की धारणा समाज मे कैसे निश्चित होती है? ईश्वर के रूप या उसके निर्देशों और आज्ञाओं का निश्चय समाज मे सर्वसाधारण द्वारा या पंचायती ढग से कभी नही होता। समाज मे जो लोग या श्रेणी जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ पैदा करने के साधनों को अपने वश मे कर लेने के कारण अधिक बलवान होती है या जीवन निर्वाह के साधन हाथ मे होने के कारण दूसरों को अपनी इच्छानुसार चला सकती है, वही लोग या श्रेणी भगवान के रूप और भगवान के निर्देशों को निश्चित करने का अधिकार भी अपना लेती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज के शासन का अधिकार और ईश्वर का प्रतिनिधित्व सदा एक साथ ही चलता आया है और भगवान की शक्ति के प्रति सर्वसाधारण जनता का विश्वास और भय शासक श्रेणी की बड़ी भारी शक्ति रहा है। कोई भी राजा या शासक जनता का शासन करने के लिए अपनी कल्पना या धारणा के भगवान की सहायता लेना नही भूला। राजनैतिक शक्ति स्थापित करते समय गुरु गोविन्दसिह और शिवाजी 'अकाल पुरख' और ससार की रक्षा करने वाली देवी को

पुकारना न भूले। पठान या मुगल शासन क़ायम करने वाले लोग भी 'अल्लाह' की आज्ञा और निर्देश की पूर्ति का और उनके सेवक या प्रतिनिधि होने का दम भरते रहे। यही बात इसाई साम्प्रदायिकता में विश्वास रखने वाले साम्राज्यवादियों ने भी की और गाधीवादी कांग्रेसी सरकार भी इस उपाय से अपनी शक्ति जनता पर जमाने में कोई क़सर नहीं छोडती।

प्राय यह मिथ्या विश्वास फैलाया जाता है कि इस देश मे धर्म का निश्चय करने वाले या भगवान का प्रतिनिधित्व करने वाले महात्मा सासारिक समृद्धि और राजकीय शक्ति से कोई लगाव नहीं रखते थे। इस प्रचार का प्रयोजन सर्वसाधारण को बहका कर धर्म और नैतिकता की परम्परागत सामन्तवादी और पूंजीवादी धारणाओं के प्रति उनको श्रद्धा और विश्वास जमाये रखना ही है। यह सम्भव है कि शासक श्रेणी के कुछ लोग इन्द्रिय तृप्ति की कोई सीमा न देख, इन्द्रिय सुख की उपेक्षा कर मानसिक सुख से सन्तोष पाने का शौक़ करते हों परन्तु व्यवस्था को निश्चित करने वाले यह लोग शासक श्रेणी के अग और उसी श्रेणी के विचारक और प्रतिनिधि थे। उनकी अपनी श्रेणी का शासन और अधिकार ही उनकी दृष्टि मे सबसे बड़ा न्याय और ईश्वरीय आज्ञा थी। धर्म अर्थात् समाज व्यवस्था के नियमों के निर्णय के अधिकार को अपने वर्ग के हाथ में रखने की दृढ़ता का एक उदाहरण हमारे पुराणों में विश्वामित्र और वशिष्ट की प्रतिद्वन्दिता की कथा है जो उस समय के शासन वर्ग, ब्राह्मण श्रेणी के प्रमुखों मे क्षत्रिय श्रेणी के स्थान पाने के यत्न की कहानी है। * महाऋषि विश्वामित्र के ज्ञान और शक्ति को स्वीकार करके भी तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग उन्हे ब्रह्मऋषि अर्थात व्यवस्था का निर्णायक मान लेने को तैयार न हुआ। उन्हे राजर्षि अर्थात व्यवस्था को चलाने वाले कारिन्दे ही बनाये रक्खा गया। इसी प्रकार हिन्दू या आर्य सामाजिक मर्यादा के मुख्य सस्थापक मनु ने शायद स्वयम ससार के भोगविलास से विरक्त होते हुए भी समाज की व्यवस्था के लिये ऐसे ही नियम निश्चित किये जिनसे उनकी श्रेणी का शासन हजारों वर्ष तक दृढ रहा और शोषित दलित वर्ग का अपनी मुक्ति या आत्मनिर्णय की बात सोचना भी पाप समझा जाता रहा। इस वर्ग के लिए मनुष्य-जीवन का उद्देश्य पूरा करने का अर्थात

* ब्राह्मणों के नेता वशिष्ठ थे। क्षत्रियों के नेता विश्वामित्र थे।

ईश्वर से साक्षातकार का साधन केवल स्वामी श्रेणी की सेवा ही निश्चित किया गया। उसी प्रयोजन को आज गांधीवाद पूरा कर रहा है। गांधीवाद भी सर्वसाधारण को उपदेश देता है कि जीवन की सफलता भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में नहीं। ऐसा करना जीवन के उद्देश्य से भटक जाना है। इसका परिणाम होगा कि मालिक श्रेणी द्वारा अपने हित मे जारी की गई व्यवस्था यथावत बनी रहे।

आज हमें मनु के विधान चाहे कितने अन्याय पूर्ण जाने पड़ें परन्तु उस आर्थिक परिस्थिति और व्यवस्था मे मनु के विचारों पर ईश्वरीय न्याय की मोहर मानी ही जाती थी। ऐसा ही दूसरा उदाहरण यूनान के त्यागी ऋषि सुक्रात के उपदेश हैं। सुक्रात ने अपने विचार से सत्य कहने के अधिकार की रक्षा के लिये अपने हाथों विष का प्याला पी लिया था। स्वय वैरागी और न्याय के घोर पक्षपाती होते हुए भी उन्हों ने समाज की उस अवस्था में दास प्रथा को न केवल न्यायपूर्ण वल्कि समाज मे सभ्यता के विकास के लिये अनिवार्य वताया। स्वयं हमारे अपने समाज के इतिहास में भगवान के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले महापुरुषों भगवान मनु और गांधीजी की परस्पर-विरोधी ईश्वरीय प्रेरणाओं के रूप में ईश्वर की अनेक परिभाषाओं और आज्ञाओं के ऐतिहासिक विश्लेषण से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि ईश्वर के रूप और आज्ञायें प्रत्येक समाज की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार वदलती और वनती रहती हैं और इनका निर्णय शासक श्रेणी के हाथ मे रहता है। व्यवस्था निश्चय करते समय शासक श्रेणी ईश्वर के प्रतिनिधित्व का अधिकार अपनाकर अपने हित को ही न्याय की कसौटी मान लेती है। व्यवस्था और सत्य-अहिंसा का प्रयोजन समाज में मौजूद आर्थिक व्यवस्था को यथावत वनाये रखना ही होता है।

ईश्वर की शक्ति का आर्थिक रूप

ईश्वर के रूप और निर्देशों की दूसरी परिभाषाओं और व्याख्याओं की तरह गांधीवादी व्याख्या मे भी सामाजिक और राजनैतिक प्रयोजन ही मुख्य है। ईश्वर के सम्वन्ध में गांधीवादी व्याख्या है—"इस परमेश्वर का स्वरूप मन अथवा वाणी से परे है। उसके सम्वन्ध मे हम इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर अनादि, अनन्त, सदा एक रूप रहने वाला विश्व का आत्मा स्वरूप अथवा आधार रूप और उस विश्व का कारण है। वह चेतन अथवा ज्ञान स्वरूप है। उसी का एक

सनातन अस्तित्व है। शेष सब नाशवान है। यदि एक छोटे शब्द का प्रयोग उसके लिए करना चाहें, उसे हम सत्य कह सकते हैं।"*
ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को तर्क से परे केवल विश्वास पर ही जमाने वाले दूसरे लोगों की तरह गांधीवाद भी ईश्वर की परिभाषा के प्रारम्भ में ही कह देता है कि "ईश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है।" अर्थात सर्वसाधारण लोग ईश्वर के रूप और ईश्वर के निर्देशों के सम्बन्ध में न कोई तर्क कर सकते हैं और न कोई राय दे सकते हैं। ईश्वर के स्वरूप और आज्ञाओं के सम्बन्ध में हमें अंधविश्वास से स्वीकृत धारणाओं और ईश्वर से प्रेरणा ग्रहण करने वाले धर्म गुरुओं के उपदेशों और निर्णय को ही मानना होगा। ईश्वर का रूप और उसकी प्रेरणा सर्वसाधारण के मन और वाणी से तो परे है परन्तु समाज के शासकों और धर्म गुरुओं के मन और वाणी से परे नहीं। भगवान से प्रेरणा पाने का दावा करने वाले लोग एक ही समस्या पर भगवान से परस्पर-विरोधी प्रेरणायें पा सकते हैं। जैसे कि भारत के बटवारे की समस्या पर मि० जिन्ना और गांधीजी पा रहे थे। महमूद गजनवी भगवान से सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ने की और सोमनाथ के पुजारी मन्दिर की रक्षा की प्रेरणा पा रहे थे। प्रेरणाओं के इन परस्पर विरोधी उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भौतिक कसौटी से परे रहने वाले ईश्वर की प्रेरणा को मनुष्य सदा अपनी धारणा, विश्वास और प्रयोजन के अनुसार ग्रहण कर लेता है।

आत्मा का अस्तित्व और इस धारणा का प्रयोजन

गांधीवाद के अनुसार ईश्वर मनुष्य के मन और वाणी से परे है। दूसरी ओर गांधीवाद के अनुसार मनुष्य-जीवन का उद्देश्य भगवान से साक्षातकार करना है। मनुष्य के पास मन और वाणी के अतिरिक्त भगवान से साक्षातकार करने का साधन क्या है? गांधीवाद सम्भवत मनुष्य के आत्मा और भगवान की मुलाकात को ईश्वर का साक्षात्कार कहना चाहता है। भगवान के अस्तित्व की तरह आत्मा का अस्तित्व भी विज्ञान या तर्क द्वारा प्रमाणित नहीं, यह केवल विश्वास की वस्तु है। भगवान से किसी आत्मा के साक्षातकार का कोई निर्विवाद भौतिक प्रमाण सर्वसाधारण नहीं पा सकते। अधिकांश सम्प्रदाय मनुष्य के भगवान से साक्षातकार का समय मृत्यु के बाद निश्चित करते

---

*गांधी विचार दोहन पृष्ट ४

हैं। मृत्यु के बाद मनुष्य का आत्मा भगवान से साक्षात्कार कर पाता है या नहीं इसकी कोई निर्विवाद खोज नहीं की जा सकती। जीवों के भौतिक शरीर से भिन्न किसी 'चेतन' और 'अमर' वस्तु का विश्वास किसी भौतिक अनुभव और परखे जा सकने वाले तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करने वाले सभी लोगों की आत्मा के सम्बन्ध मे धारणायें एक सी नहीं हैं। आत्मवादी लोग आत्मा की भिन्न-भिन्न परिभाषायें बताते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में इस मतभेद का कारण यही है कि आत्मा भौतिक जगत के जाने और परखे जा सकने वाले पदार्थों की तरह निर्विवाद वस्तु नहीं है। वह कल्पना की वस्तु है इसलिए आत्मा के सम्बन्ध में खास परिस्थितियों के अनुसार धारणायें बना ली जाती रही हैं। कुछ आत्मवादी उदाहरणत अद्वैत-वादी आत्मा को ईश्वर का ही अंश बताते हैं। इस परिभाषा के अनुसार आत्मा के भी वही गुण होंगे जो ईश्वर के हैं अर्थात् आत्मा भी अजर, अमर और सदा एक रूप, रस रहने वाला और ज्ञान स्वरूप माना जाता है। कुछ आत्मवादी लोग आत्मा का अस्तित्व ईश्वर से भिन्न मानते हैं। यह लोग आत्मा को अजर, अमर तो मानते हैं परन्तु ईश्वर के समान पूर्ण ज्ञान स्वरूप नहीं मानते। कुछ आत्मवादी आत्मा को 'अणु' मानते हैं और दूसरे 'विभु'। आत्मा को अणु बताने वाले ससार के सब जीवों में पृथक-पृथक आत्मा होने का विश्वास करते हैं। आत्मा को विभु मानने वाले आत्मवादियों का विश्वास है कि ससार भर के जीवों मे एक ही आत्मा व्यापक है।

आत्मा के सम्बन्ध मे तीन प्रकार की इन धारणाओं मे से कौन धारणा ठीक है इस सम्बन्ध मे भौतिक ज्ञान की अथवा सर्व साधारण मनुष्यों के अनुभव से परखे जा सकने वाले तर्क की कोई कसौटी नहीं है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण और तर्क केवल ज्ञानी समझे जाने वाले व्यक्तियों की कही हुई बातें ही है। आत्मा के सम्बन्ध मे उपरोक्त तीन धारणाओं या विश्वासों में से केवल एक को ही ठीक माना जा सकता है। एक ही धारणा को ठीक मानने पर दो को अवश्य गलत मानना होगा। अर्थात् प्रत्येक धारणा के ठीक होने की जितनी सम्भावना है उससे दुगनी सम्भावना उसके गलत होने की है।

बिना किसी भौतिक प्रमाण के केवल विश्वास के आधार पर ईश्वर

और आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लेने में तर्क का ढङ्ग इस प्रकार होता है—ईसाइयत में विश्वास रखने वाले सर्व-साधारण लोग जब अपने सांसारिक अनुभव से सन्देह करते हैं कि कुमारी के गर्भ से पुरुष के सङ्ग के बिना मसीह का जन्म कैसे हो सकता था? तो पादरियों का एक ही 'अकाट्य' उत्तर होता है—"तुम भगवान में विश्वास करते हो?"

अनिवार्य उत्तर मिलता है—"अवश्य।"

"मानते हो भगवान सर्वशक्तिमान है?"

"अवश्य"

"भगवान सर्व शक्तिमान है तो उसकी इच्छा से कुमारी के गर्भ से भी सन्तान उत्पन्न हो सकती है।"—यह उत्तर पाने पर भगवान की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास रखने वाले लोगों का समाधान हो जाता है परन्तु इस समाधान का आधार पहले भौतिक प्रमाण और तर्क के बिना भगवान के अस्तित्व में विश्वास कर लेना ही है। एक मिथ्या विश्वास दूसरे मिथ्याविश्वास का आधार बनता चला जाता है।

आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करने वाले लोगों का कहना है कि मनुष्य की चेतना और सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत उसकी आत्मा ही है। जीवों का शरीर जड़ प्रकृति से बना है। जड़ प्रकृति में चेतना नहीं होती इसलिए आत्मा के अभाव में जीवों को अचेतन ही रहना चाहिए। जीवों की चेतना ही आत्मा के अस्तित्व का स्वत प्रमाण है। जीवों में चेतना का होना निर्विवाद भौतिक सत्य और अनुभव है परन्तु जीवों की चेतना का स्रोत या कारण आत्मा ही है इस बात के लिए कोई भौतिक प्रमाण या संगत तर्क हमें नहीं मिलता।

यदि मनुष्य की चेतना और ज्ञान किसी स्वयं चेतन और 'अमर' आत्मा का परिणाम है। यदि आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण सब जीवों में समान है। यदि जीवों का आत्मा सांसारिक और भौतिक प्रभावों से स्वतन्त्र है तो हमें मनुष्य सदा से ही उतना ज्ञानी दिखाई देना चाहिए था जैसा कि हम उसे आज के समाज में देख रहे हैं। सभी जीवों और मनुष्य का आत्मा एक ही ईश्वर का अंश होने के कारण सभी जीवों के और मनुष्यों को समान रूप से सचेत होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। मनुष्य अथवा जीवों के जीवन और चेतना में

हम भौतिक प्रभावों से भिन्न किसी स्वतन्त्र अभौतिक शक्ति अस्तित्व या 'अमर' और 'चेतन' ज्ञान के स्रोत आत्मा का प्रमाण नहीं पाते।

जीवों और मनुष्यों में चेतना के भिन्न-भिन्न स्तर दिखाई देते हैं। मनुष्यों के अनेक समाजों की परस्पर तुलना करने पर और प्रत्येक समाज के व्यक्तियों की तुलना परस्पर करने भी चेतना के अनेक स्तर दिखाई देते हैं। मनुष्यों और जीवों की चेतना के यह स्तर उन की भौतिक परिस्थितियों से उनके शरीर, मस्तिष्क और स्नायुओं के विकास से निश्चित होते हैं। जीवों और मनुष्यों की चेतना का इतिहास विकास और परिवर्तन की परम्परा की साक्षी है, एक रूप रस रहने वाले, पूर्ण ज्ञान स्वरूप ईश्वर के अंश आत्मा के अस्तित्व का नहीं। हम अपने देश की अनेक आदिवासी जातियों मे पीढी-दो पीढ़ी में चेतना का अद्भुत विकास हो जाता देखते हैं। जिन देशों या समाजों मे चेतना के विकास में सहायता देने वाली भौतिक परिस्थितियां पैदा नहीं होती, वहां मनुष्यों की चेतना में किसी अभौतिक, पूर्ण ज्ञान स्वरूप, एक मात्र चेतन, अपरिवर्तनशील ईश्वर के अंश आत्मा से चेतना पाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

यह धारणा कि प्रकृति से उत्पन्न शरीर मे चेतना ईश्वर या आत्मा के अस्तित्व के बिना स्वयं चेतना नहीं हो सकती, भौतिक ज्ञान की कमी है। जीवों की उत्पत्ति और जीवों में चेतना के विकास का इतिहास हमारे सामने है। सृष्टि के इतिहास और जीव विज्ञान के अध्ययन से हम जड़ समझी जाने वाली प्रकृति से जीव की उत्पत्ति और जीवों मे चेतना के विकास के क्रम को भी समझ सकते है। अपने साधारण ज्ञान के आधार पर प्रकृति को जड मान लेना भूल है। जड जान पडने वाली प्रकृति के अणुओं और परमाणुओं में गति विद्यमान रहती है यह भौतिक प्रकृति का अंग और गुण हैं। प्रकृति मे सदा समायी हुई यह गति ही भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं से जीव का रूप ले लेतीहै। अपने शरीर में प्रकृति से अंश ग्रहण कर अपने अस्तित्व या शरीर को बढाना, शरीर के पूर्ण हो जाने पर प्रजनन द्वारा अपनी जाति को बढ़ाना ही जीव का गुण और पहचान है। जीव जब प्रयोजन या उद्देश्य से गति या क्रिया करने लगता है तो उसे हम चेतना कहते हैं। जीवों के मस्तिष्क की गति या क्रिया ही उन की चेतना है। मस्तिष्क के भौतिक विकास और शक्ति पर ही चेतना का विकास निर्भर करता है।

सजीव शरीर के अभाव में चेतना के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। सृष्टि मे जीवों की उत्पत्ति और विनाश प्राकृतिक भौतिक जगत मे भिन्न किसी दूसरी शक्ति के कारण नहीं होता। जीवों और मनुष्य की चेतना का विकास हम उन की भौतिक परिस्थितियों द्वारा होने वाले परिवर्तनों की परम्परा में देखते हैं। जीवों म अपरिवर्तन-शील स्वतः पूर्ण चेतना के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं दिखाई देता।

सृष्टि, मनुष्य शाश्वत नहीं परिवर्तनशील

मनुष्य के शरीर से भिन्न आत्मा के विश्वास का आधार है जन्म और मृत्यु से पूर्व और पश्चात भी जीवन की कल्पना जोडने का प्रयत्न।

यद्यपि ईश्वर का आस्तित्व हमारे मन और वाणी या ज्ञान से परे बतलाया जाता है परन्तु उसके साथ ही ईश्वरवादी हमें यह भी समझाते हैं कि हमारा जीवन और यह संसार ही ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है। हम ईश्वर के सूक्ष्म, रूप रहित अस्तित्व को नहीं देख सकते परन्तु उसके बनाये स्थूल जगत को तो देख ही सकते है। इतने बड़े संसार को देख कर उसे बनाने वाले की शक्ति सामर्थ्य और ज्ञान का अनुमान किया जाना चाहिए। यह संसार है तो इसे बनाने वाला भी कोई होगा ही। बनाने वाले के बिना कोई वस्तु बन नहीं सकती। परन्तु ऐसा तर्क भगवान के सम्बन्ध में भी लागू हो सकता है। यदि भगवान कोई वस्तु या शक्ति है तो उसे किसने बनाया है ? भगवान के सम्बन्ध मे बताया जाता है कि वह "स्वयम्भू" अर्थात् स्वय ही पैदा हो जाने वाली शक्ति है। भगवान या किसी भी शक्ति या वस्तु को स्वयम्भू (स्वय बना) मान लेना इस तर्क के विरुद्ध है कि प्रत्येक वस्तु को बनाने वाली कोई दूसरी शक्ति या वस्तु होनी चाहिये। हमें कोई एक ऐसी चीज, उसे चाहे जो नाम दिया जाय, माननी पड़ेगी जिसे बनाने वाले का कल्पना हम न कर सकेंगे। जब किसी न किसी एक ऐसी चीज की कल्पना करना आवश्यक है, जिसे किसी ने नहीं बनाया, जो स्वयम उत्पन्न हुई है, 'स्वयम्भू' है तो हम ऐसी एक अज्ञात चीज की कल्पना किये बिना, जिसे हम देख, सुन, समझ नहीं सकते, इस सृष्टि को ही स्वयम उत्पन्न हुआ क्यों न मान लें ?

इस सृष्टि का अस्तित्व अज्ञात काल से चला आ रहा है। इसमे होने वाले कुछ परिवर्तनों के समय की गणना विज्ञान कर सकता है। मनुष्य इन परिवर्तनों के क्रम का भरोसे योग्य ज्ञान पा चुका है

और उन्हे जानता जा रहा है। यह एक विचित्र बात है कि जिन चीजों के अस्तित्व को हम देख-सुन और परख सकते हैं, उन पर भरोसा न करें, उन्हे भ्रम और माया समझें और जिसे अपने मन और वाणी से परे मान लें, उन की बेसिर पैर की कल्पना करते जाय। इस सृष्टि सृष्टि के जीवों और मनुष्यों का वैज्ञानिक इतिहास हमे किस परिणाम और अनुमान पर पहुॅचाता है ? इस सृष्टि और इस सृष्टि के जीवा का इतिहास बताता है कि सृष्टि और जीवों को हम जिस रूप में आज देखते है वे सदा से इस रूप मे नही थे अर्थात् इन्हे ऐसा ही बनाया नही गया। वर्तमान सृष्टि और मनुष्यों के दिखाई देने वाले रूप असख्य परिवर्तनों से होकर इस अवस्था मे पहुॅचे हैं। विज्ञान इस बात की खोज कर विश्वस्त रूप से इस परिणाम पर पहुॅचा है कि न तो यह पृथ्वी ही पहले ऐसी थी और न पृथ्वी और सूर्य चन्द्र के सम्बन्ध ही सदा ऐसे थे। पृथ्वी के अनेक भाग जो आज पहाड है, किसी समय समुद्र के अंश थे। हिमालय और दूसरे पहाडों पर जल-जन्तुओं के शरीरों की ठठरिया पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वह स्थान किसी समय गहरा समुद्र था। इस पृथ्वी पर जीवों और मनुष्य का जैसा अस्तित्व आज दिखाइ दे रहा है वह भी सदा से नही चला आया। मनुष्य की वर्तमान अवस्था परिवर्तनों के एक क्रम का परिणाम है।

यह भी नही कहा जा सकता कि सृष्टि, जीवों और मनुष्यों का इतिहास, किसी पूर्ण चेतन, ज्ञान स्वरूप, कभी भूल-चूक न करने वाली शक्ति की योजना का परिणाम है। क्योंकि यह क्रम निरन्तर विकास का ही नही रहा। इस क्रम मे ह्रास और विकास दोनों के ही समान और निर्विवाद प्रमाण मिलते है। जीव-विज्ञान की खोज से इस बात के अकाट्य प्रमाण मिलते है कि एक समय इस पृथ्वी पर जीवों की हजारों ऐसी जातिया थी जो आज लोप हो गई हैं। आज उनके लाखों वर्ष पुराने ठट्ठर ही मिलते हैं। इनमे से 'टिसेराटोप' 'डिनोसेरास' 'टिटानोथेरियम' के ठट्ठर अजायब घरों मे देखे जा सकते हैं परन्तु आज यह जीव जीवित अवस्था मे कही नही हैं। आज वे इस सृष्टि मे इसलिए नही हैं क्योंकि सृष्टि की अवस्था मे परिवर्तनों के कारण उनके जीवन निर्वाह योग्य परिस्थितिया नही रहीं। सामयिक जीव विज्ञान बतलाता है कि गैंडा, ह्वेल मछली और बब्बर शेर भी शनैः-शनैः सृष्टि से मिटते जा रहे हैं क्योंकि अब सृष्टि मे उनके बढ़ने लायक

परिस्थितियाँ नहीं रहीं। सृष्टि में होने वाले इन परिवर्तनों के पीछे किसी पूर्व चेतन और ज्ञान स्वरूप उद्देश्यमय शक्ति का प्रयोजन नहीं जान पड़ता, उसमें प्रयोजन और उद्देश्य की शृंखला कहीं दिखाई नहीं पड़ती। सृष्टि के इतिहास में केवल यही नियम शाश्वत और निरन्तर रूप से दिखाई देता है कि जीव परिस्थितियों के अनुसार जीवित रह सकने के प्रयत्न में जीवों का शारीरिक विकास होता रहा है। भौतिक शारीरिक विकास का ही अंग उनकी चेतना भी है।

मनुष्य के विकास का इतिहास भी किसी अनादि, अनन्त, पूर्ण ज्ञान स्वरूप और उद्देश्यमय शक्ति द्वारा मनुष्य के बनाये जाने के विश्वास में सब से बड़ा आपत्ति पैदा कर देता है। संसार के सभी वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत सृष्टि के इतिहास के अनुसार मनुष्य के पूर्वज-जीव करोड़ों वर्ष तक मनुष्य के रूप में नहीं थे। मनुष्य के पूर्वज-जीवों की उस अवस्था में न तो उनके ऐसे हाथ पाँव थे और न उनके मस्तिष्क या चेतना का ही उतना विकास उस अवस्था में हुआ था कि वे भगवान की कल्पना और अपने जीवन का उद्देश्य ईश्वर से साक्षातकार करने की कल्पना कर सकते। लाखों वर्ष पहले के इतिहास को छोड़ कर यदि हम आज भी संसार के भिन्न-भिन्न भागों में पाये जाने वाले मनुष्य-समाजों के ज्ञान और चेतना की परस्पर तुलना करें तो उन्हें एक ही भगवान की रचना मान लेने पर उस भगवान को न तो हम न्यायकारी, दयालु और न ज्ञान स्वरूप ही मान सकेंगे। यदि मनुष्य भगवान का ही अंश है, उसी का बनाया खिलौना है, मनुष्य भगवान से ही ज्ञान पाता है तो मनुष्य के लाखों वर्ष तक अज्ञान की अवस्था में रह कर सृष्टि की शक्तियों से दुख पाते रहने और नष्ट होते रहने का उत्तरदायित्व किस शक्ति पर है? मनुष्य-जीवन का उद्देश्य निश्चित करते समय हमें मनुष्य के सामर्थ्य को भी ध्यान में रखना पड़ता है। जिस समय मनुष्य की चेतना और सामर्थ्य हमारे वर्तमान समाज के मनुष्यों जैसी नहीं थी उनके जीवन का उद्देश्य भी हमारी कल्पना के अनुसार नहीं हो सकता था इसलिये गांधीवाद द्वारा बताये गये मनुष्य जीवन के उद्देश्य को भी मनुष्य-जीवन का सदा से चला आया उद्देश्य नहीं मान लिया जा सकता? यह उद्देश्य गांधीवाद द्वारा अपनी श्रेणी के अधिकारों की रक्षा और सर्वसाधारण को भटकाने के लिये ही गढ़ा गया है।

सृष्टि के इतिहास की वैज्ञानिक खोज और जांच से हम इस परिणाम

पर पहुँचते है कि अनेक जीवों के जीवित रह सकने के संघर्ष में विकास से मनुष्य अपनी आधुनिक अवस्था तक पहुँच गया। मनुष्य ने अपने विकास तथा ज्ञान के अनुसार समय-समय पर भगवान के रूपों और निर्देशों को स्वयम् निश्चित किया है। यह सिद्धान्त कि आदि, अनन्त पूर्ण चेतन और ज्ञान स्वरूप भगवान ने किसी विशेष उद्देश्य और प्रयोजन से अर्थात स्वयं उससे साक्षातकार करने के लिये मनुष्य को बनाया है, सृष्टि के इतिहास की वास्तविकता को ठीक उल्टे रूप में पेश करना है। यह गढ़न्त उन चतुर लोगों की है जो स्वयम् ईश्वर की प्रेरणा और न्याय के कारिन्दे बन कर सर्वसाधारण को भगवान के नाम पर अपने शासन मे बाधकर अपने स्वार्थ की सिद्धि का साधन बनाये रखते रहे हैं और भविष्य मे भी बनाये रखना चाहते हैं। गाधीवाद द्वारा बताए गए भगवान की परिभाषा की जाच व्यवहारिक दृष्टि से करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भगवान के गाधीवाद द्वारा बताये गए सब गुण वही हैं जिन्हे कोई भी शासक या शक्ति अपने शासन के सम्बन्ध में शासितों या सर्व साधारण को बताना चाहती है। शासक वर्ग द्वारा गढ़े गए भगवान या संसार का भाग्य निश्चित करने वाली इस शक्ति के इन गुणों के प्रति विश्वास पैदा करने का प्रयोजन है कि वे समाज मे चालू व्यवस्था को अनादि और अनन्त समझें। सर्वसाधारण के मस्तिष्क से इस व्यवस्था के विरोध या इसे बदलने की इच्छा और साहस का अवसर न रहे, समाज की व्यवस्था के प्रति विरोध की सम्भावना न रहे और समाज की आर्थिक और शासन व्यवस्था यथावत बनी रह सके। भगवान की परिभाषा और विधान का सम्पूर्ण सार यही है कि शासक श्रेणी की व्यवस्था से असन्तुष्ट समाज का अंग समाज की व्यवस्था को बदलने की चेष्टा न कर इस व्यवस्था के सामने सिर झुकाता रहे।

समाज की व्यवस्था मे किन लोगों के कामों या पापों से विघ्न या विरोध होने की आशका हो सकती है? स्पष्ट है कि ऐसी आशका उन्ही लोगों से हो सकती है जो समाज मे चालू व्यवस्था मे सन्तोष का अवसर नही पा सकते। जिन लोगों से सन्तोष के साधन और अवसर पाने के लिए व्यवस्था-विरोधी-प्रयत्न करने की आशका हो सकती है, उन्हे ही वश मे रखने के लिए समाज मे यह विश्वास पैदा करना आवश्यक होता है कि समाज की व्यवस्था ससार को बनाने

वाली, तुमसे, मनुष्य से बहुत बडी शक्ति द्वारा निश्चित की गई है। मनुष्य इस व्यवस्था के विरोध में सफलता नहीं पा सकते। ऐसे पाप के लिए भगवान कठोर दण्ड देगा। ऐसे व्यवस्था-विरोधी कामों का दण्ड भगवान की ओर से समाज मे भगवान का प्रतिनिधि शासक वर्ग ही देता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब समाज या देश का शासन करने वाले शासक वर्ग से प्रबल हो जाने वाली कोई शक्ति शासन का अधिकार उनसे छीन लेती है तो ईश्वर का समर्थन और न्याय शक्ति के संघर्ष मे सफल हो जाने वाली शक्ति या लोगों को मिल जाता है। हमारे देश के इतिहास मे "देवासुर संग्राम" से लेकर 'कांग्रेस' और 'मुस्लिम लीग' के राज्य तक यही बात प्रमाणित होती है। हमारे देश मे अभी तक मौजूद रजवाडों को स्थापित करने वालों के पूर्वजों ने इन प्रदेशों को शस्त्रों के संघर्ष मे सफल होकर ही छीना था। किसी समय वे लोग डाकू, लुटेरे या बागी समझे जाते थे परन्तु शस्त्र-शक्ति से सफल हो जाने पर भगवान की ओर से नियत शासक माने जाने लगे और हमारे समाज का न्याय उनके अधिकारों को ईश्वर द्वारा अनुमोदित बताता रहा है।

कर्मफल और पुनर्जन्म

ऐसी भी आशंका रहती है कि शासक वर्ग अपनी व्यवस्था के विरुद्ध किये जाने वाले प्रयत्नों को जान न सकें या किसी अवस्था मे असन्तुष्ट विरोधियों की शक्ति शासक वर्ग से अधिक हो जाय। ऐसी अवस्था में सर्वसाधारण या साधनहीनों के मन मे संसार की मालिक शक्ति का भय और व्यवस्था के विरुद्ध काम (पाप) करने से इस जन्म में नहीं तो मृत्यु के बाद दण्ड मिलने का विश्वास ही शोषितों के दमन मे शासक वर्ग की सहायता करता है। सर्वसाधारण के मन मे यह भय पैदा करके उन्हे वश मे रखने के लिए ही स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और कर्मफल की धारणाओं का आविष्कार किया गया है। स्वर्ग-नरक और कर्मफल का विश्वास और भय ही भगवान की शक्ति के व्यवहारिक रूप हैं और इनका प्रयोजन है समाज की व्यवस्था और शासन श्रेणी के शासन के अधिकार की रक्षा करना।

व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने वालों का दमन करने के अधिकार का नाम ही ईश्वरीय न्याय है। इसी प्रयोजन से समाज मे चालू व्यवस्था को ईश्वरीय न्याय कहा जाता है। ईश्वर के न्याय को लागू करने का अधिकार और अवसर

शासक वर्ग के ही हाथ में रहता है। शासक श्रेणी के स्वार्थ को पूरा करने वाली व्यवस्था में जो लोग पिसते हैं उन्हें चुप रखने के लिए उनके पिसने को भी ईश्वरीय न्याय बतलाया जाता है। शोषित और दलित लोगों के पिसने का कोई सांसारिक दृष्टि से उचित भौतिक, न्याय पूर्ण कारण न बताया जा सकने के कारण और उन्हें शान्त रखने के लिए उनकी ऐसी अवस्था को भगवान की इच्छा बतलाया जाता है। इसकी जिम्मेवारी शासक श्रेणी पर नहीं रहती। भगवान क्योंकि मन और वाणी से परे है इसलिए दलित लोग उससे तर्क नहीं कर सकते।

जब भगवान का कोई प्रत्यक्ष हस्ताक्षेप समाज की व्यवस्था को यथावत रखने या दलित लोगों का अपना बन्धन काटने या अपना दुख दूर करने का प्रयत्न करने से रोकने के लिये नजर नहीं आता तो दलितों को भयभीत करने के लिए समझाया जाता है कि ईश्वर की व्यवस्था का विरोध करने का दण्ड तुम्हें आज नहीं तो मृत्यु के पश्चात मिलेगा। यदि असन्तुष्ट दलित और शोषित अपनी दुरावस्था को सहकर, साधनों के मालिक या शासक श्रेणी के स्वार्थ में विघ्न न डाल कर अपने शोषण के लिए भगवान को धन्यवाद देते रहेंगे तो उन्हें मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलेगा या अगले जन्म में सब सुख मिल जायेंगे। मन और वाणी से परे भगवान की शक्ति का व्यवहारिक रूप यह स्वर्ग नरक और कर्मफल का विश्वास ही है। असन्तुष्ट और अवसरहीन सर्वसाधारण को वश में रखने के लिए भगवान के नाम पर प्रलोभन और भय दोनों ही दिये जाते हैं। दलितों को बताया जाता है कि सुख और दुख, अमीरी-गरीबी भगवान के न्याय और इच्छा से होती है। वास्तव में गरीब और दरिद्रनारायण ही भगवान के प्यारे हैं। स्वर्ग से उन्हें सब सुख मिल जायेंगे परन्तु यदि वे संसार में शासक वर्ग द्वारा लगाये बन्धनों को तोड़कर जीवन का अवसर पाना चाहेंगे तो भगवान उन्हें दण्ड देगा। स्वर्ग, नरक और ईश्वर से साक्षात्कार के उद्देश्य को असांसारिक और पारलौकिक लक्ष्य या दृष्टिकोण बताया जाता है परन्तु इन सब बातों का सम्बन्ध समाज के व्यक्तियों की आर्थिक परिस्थितियों से ही है। स्वर्ग और ईश्वर का साक्षात्कार पाने और नरक से बचने के लिये जिन व्यवहारों का उपदेश दिया जाता है उनका तत्कालिक प्रभाव असन्तुष्ट वर्ग के असन्तोष का दमन कर सामाजिक व्यवस्था को यथावत रखना और परिवर्तन की चेष्टा को रोके रहना ही है।

जिन कर्मों या पापों से नरक मिलता है, उनका सामाजिक रूप क्या है ? सक्षेप में ईश्वर की सत्ता या ईश्वरीय न्याय को स्वीकार न करना। यह पाप कर्म है, समाज के व्यक्तियों के परस्पर-सम्बन्धों या आर्थिक व्यवस्था को यदि हम एक ओर छोड़ दें तो ईश्वर की सत्ता और ईश्वरीय न्याय के लिए कौन क्षेत्र और क्या प्रयोजन रह जाता है ? समाज से दूर निर्जन प्रान्त में अकेले रहने वाला व्यक्ति न पाप कर सकता है न पुण्य ? पाप पुण्य, स्वर्ग नरक और कर्मफल वास्तव में समाज की आर्थिक व्यवस्था को मानने या न मानने के ही काल्पनिक पुरस्कार या दण्ड हैं। इनका आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था ही है और ईश्वरीय न्याय का समाजिक और व्यवहारिक रूप समाज की आर्थिक व्यवस्था यथावत् रखना ही है।

भगवान का न्याय, स्वर्ग, नरक और कर्मफल भी भगवान के समान मन और वाणी से परे, केवल विश्वास की वस्तु हैं। केवल दृढ़ विश्वास के कारण ही कोई बात सत्य या वास्तविक नहीं हो सकती। मनुष्य अज्ञान के कारण मिथ्याविश्वास पर भी अपने प्राण निछावर कर सकता है। धूर्त लोग सर्वसाधारण के मिथ्याविश्वास से सदा लाभ उठाते रहे हैं। साधनहीन लोग जीवन में अवसर न पाने को अपने पिछले जन्म के कर्म का फल तो मान लें परन्तु पिछले जन्म में वे पाप कर चुके हैं, इस धारणा का आधार क्या है ? मनुष्य कई जन्म पा चुका है और भविष्य में भी जन्म लेता रहेगा। पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त में केवल हिन्दू सम्प्रदाय का ही विश्वास है, ईसाई, बौद्ध या इस्लाम का नहीं। पुनर्जन्म का ज्ञान भगवान ने केवल हिन्दुओं को दिया है, दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को नहीं। भगवान जैसे हिन्दुओं के लिए पूर्ण ज्ञान स्वरूप है, वैसा ही मुसलमानों और ईसाइयों के लिये भी परन्तु पुनर्जन्म की चातुर्य्यपूर्ण कल्पना केवल हिन्दू आध्यात्म की ही पद्धति में है। दूसरे सम्प्रदाय केवल एक स्वर्ग की कल्पना करके ही सन्तुष्ट रह गये हैं।

यदि हम यह मान लेना चाहें कि व्यक्ति का दुर्भाग्य या अवसर-हीन होना उसके पिछले जन्म के कर्म का ही फल है तो यह भी जानना चाहेंगे कि यह दुर्भाग्य व्यक्ति के किस खास कर्म का फल है ? कोई भी न्यायकारी शासक अपराध बताये बिना दण्ड देना उचित नहीं समझता। गांधीवाद के अनुसार भगवान दयालु और न्यायकारी है परन्तु यही

भगवान सर्वसाधारण जनता को उनके पाप या अपराध बताये बिना जन्म भर के लिये अवसर और साधनहीन बना देता है।

कहने को तो न्यायकारी भगवान मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता देता है परन्तु इस जन्म मे कर्म कर सकने का अवसर और साधन पिछले जन्म के अपराधों के बहाने, वह अपराध बताये बिना ही छीन भी लेता है। पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और इन साधनों के उत्तराधिकार को न्याय मानने वाले समाज मे निर्धन या साधनहीन परिवारों मे जन्म पाना मनुष्यों के पिछले जन्म के कर्मों का फल बताया जाता है। मनु भगवान ने वर्ण-व्यवस्था के जिस ईश्वरीय न्याय का उपदेश दिया है और जिस न्याय के अनुसार हिन्दू समाज हजारों वर्ष चलता रहा है, शूद्र और अन्त्यज (अछूत) कुल मे पैदा हो जाना पूर्व जन्म के पाप का ही फल था। आज का शिक्षित हिन्दू-समाज और कानून किसी व्यक्ति को पिछले जन्म के पापों के कारण अछूत मान कर उसका अवसरहीन बना दिया जाना न्याय नहीं समझता। समाजवादी समाज मे, उदाहरणत रूस मे जहाँ पैदावार के साधन सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति बना दिये गये है, कोई व्यक्ति जन्म से (पिछले जन्म के पुण्य के कारण) ही दूसरों की अपेक्षा अधिक अवसर प्राप्त और दूसरा (पिछले जन्म के पापों के कारण) अवसरहीन नहीं हो सकता। यदि समाज की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में प्रजातन्त्रवादी और समाजवादी परिवर्तन आ जाने से कर्मफल का मुख्य आधार (जन्म से साधनहीन और साधनवान होना) बदल सकता है तो निश्चय ही कर्मफल के सिद्धान्त का आधार सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और उत्तराधिकार की आर्थिक प्रणाली की रक्षा करना ही है। इसका प्रयोजन है अवसरहीनों और साधनहीनों के दमन द्वारा समाज मे चालू आर्थिक व्यवस्था को यथावत् रखना।

ससार को बनाने और उसका नियन्त्रण करने वाली एक शक्ति की कल्पना और उस शक्ति को अनादि, अनन्त, पूर्ण ज्ञान स्वरूप और सदा एक रूप-रस रहने वाली बताकर उसके न्याय के अनुसार समाज के आर्थिक सम्बन्धों को यथावत् रखने का उपदेश गान्धीवाद का नया आविष्कार नहीं है। अपने भौतिक विकास और ज्ञान की पहुँच के अनुसार जो समाज जिस रूप मे भगवान की कल्पना करता आया है, उसी रूप मे भगवान को अनादि, अनन्त, पूर्ण ज्ञान स्वरूप और शाश्वत बताकर

भगवान को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की रक्षा का साधन बनाता आया है। भगवान की आज्ञा से हारे हुए शत्रु को मार कर खा जाने वाले असभ्य लोग और आत्मचिन्तन द्वारा निर्गुण ब्रह्म से साक्षात्कार करने का विश्वास रखने वाले आत्मज्ञानी लोग, अपनी-अपनी कल्पना के भगवान को शाश्वत और पूर्ण ज्ञान स्वरूप ही मानते आये हैं। मनुष्य भगवान के रूप और निर्देशों को स्वयम् बनाकर और आवश्यकतानुसार बदलकर भी उसे शाश्वत ही बताता आया है क्योंकि भगवान को शाश्वत बताये बिना उसके नाम से किसी व्यवस्था या सत्य अहिंसा को शाश्वत नहीं बताया जा सकता था। भगवान का रूप और उसकी आज्ञायें केवल सर्वसाधारण जनता अर्थात साधनों और अवसर से हीन लोगों के लिये ही शाश्वत है। जो लोग समाज के नेतृत्व का और भगवान के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकते हैं, वे भगवान के रूप और आज्ञाओं को जब चाहे बदल सकते हैं और इन बदली हुई आज्ञाओं को ही शाश्वत बना देते हैं। उदाहरणत. गांधी जी ने अछूत प्रथा को ईश्वर के न्याय के विरुद्ध बताया है। इसी अछूत प्रथा को भगवान मनु और भगवान शंकराचार्य ने ईश्वरीय न्याय बताया था। कोई भी हिन्दू यह विश्वास नहीं कर सकता कि भगवान मनु और भगवान शंकराचार्य ईश्वर की आज्ञाओं को नहीं समझते थे! अछूत प्रथा दास प्रथा के समान ही अमानुषीय अन्याय है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं परन्तु इस प्रथा को समाज के अपने अनुभव के आधार और मनुष्य की बुद्धि के अनुसार ही अन्याय न मान कर इस प्रथा को हटाने के लिये 'ईश्वर' के नाम का प्रयोग करना और ईश्वर के न्याय को शाश्वत भी बताना दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। अछूत प्रथा के निवारण के लिये ईश्वर के नाम का प्रयोग इस बात का उदाहरण है कि ईश्वर के नाम का प्रयोग निरंकुश रूप से किसी भी प्रयोजन के लिये किया जा सकता है।

समाज के अन्तरविरोध और ईश्वर विश्वास की औषधि

हमारे समाज में आज अनेक अन्तरविरोध दिखाई दे रहे हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज की बहुसंख्या के लिये जीवन रक्षा का और अपनी असह्य स्थिति में सुधार कर सकने का अवसर नहीं है। यह बात स्पष्ट है कि एक ओर सर्वसाधारण अपनी आव-श्यकतायें पूरी न हो सकने के कारण अन्न-वस्त्र के निरन्तर दुर्भिक्ष में

पीडित हैं, दूसरी ओर पैदावार के साधनों के मालिक और आवश्यक पदार्थों को गोदामों में भर कर रख लेने वाले व्यापारी ग्राहकों की कमी की शिकायत कर रहे हैं। स्वयं भूमि जोतकर अन्न उत्पन्न करने वाले किसान भूमि न पा सकने के कारण अपने परिवार और समाज के लिये अन्न नहीं उपजा सकते। पूरा देश अन्न की कमी से दुखी है। भूमि के मालिकों का लक्ष्य समाज के लिये आवश्यक अन्न उत्पन्न करना नहीं, अपने लिये अधिक से अधिक रुपया पा लेना ही है। एक ओर लोग अभाव से पीडित है दूसरी ओर आवश्यक पदार्थों के खप न सकने की शिकायत है। पैदावार करने के लिये तैयार मजदूरों को बेकार रहना पड़ता है। जब समाज मे पैदावार की अधिकता बताई जाती है तो समाज की अवस्था मे सुधार न होकर आर्थिक संकट आ जाता है। समाज मे पैदावार अधिक होने के कारण समाज का संकट बढ जाना अस्वाभाविक और परस्पर विरोधी बातें हैं। समाज का कल्याण तो पैदावार अधिक होने से ही होना चाहिये। परन्तु पूंजीवादी समाज में यह संकट का कारण माना जाता है। इस प्रकार के अन्तर-विरोधों के अनुभव से सर्वसाधारण जनता समाज की व्यवस्था को दोषहीन और समाज के लिये कल्याणकारी और शाश्वत न्याय नहीं मान सकती। न इस व्यवस्था को सम्पूर्ण संसार के पिता, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी भगवान की व्यवस्था मान लिया जा सकता है।

सर्वसाधारण जनता अपने अनुभव से समाज की आर्थिक व्यवस्था मे ऐसे परिवर्तनों की मांग कर रही है जो उन्हे जीवन रक्षा का अवसर दे सकें। सर्वसाधारण जनता की यह मांगें सांसारिक या आर्थिक है। गांधीवाद जनता की इन आर्थिक मांगों को 'इस संसार का लोभ' या भौतिकता के लिये संघर्ष बताकर इनका विरोध करता है। गांधीवाद जनता को समझाता है कि सर्वसाधारण के दुखों को दूर करने का उपाय उनकी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं बल्कि सत्य-अहिंसा का पालन करना है। सत्य-अहिंसा से गांधीवाद का अभिप्राय समाज की उसी आर्थिक व्यवस्था की रक्षा करने वाली धारणाओं से है जिन के परिणाम स्वरूप समाज मे आर्थिक विषमता बढ़ती जा रही है और सर्वसाधारण जनता साधनहीन बन कर कष्ट भोग रही है। जनता को यह विश्वास दिलाने के लिये कि समाज की आर्थिक व्यवस्था मे कोई भूल चूक या दोष नहीं, गांधीवाद उन्हे बताता है कि सत्य-अहिंसा की

यह व्यवस्था भूल करने वाले मनुष्यों द्वारा नहीं बल्कि पूर्ण ज्ञान स्वरूप भगवान द्वारा ही रची गयी है। मनुष्य उसे नहीं बदल सकते। यदि मनुष्य इस व्यवस्था को बदलने की चेष्टा करेंगे तो उनका काम असत्य-हिंसा और पाप होगा। शारीरिक आवश्यकतायें पूरी न होने पर दुख अनुभव करना और ऐसी आवश्यकतायें पूरी कर सुख की आशा करना भूल है। गांधीवाद समझाता है कि समाज के सर्वसाधारण के दुखी होने का कारण संसार का लोभ है। सर्वसाधारण को अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये समाज की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये बल्कि अपनी आवश्यकताओं को कम करके जैसा भी हो सन्तोष द्वारा इसी व्यवस्था की रक्षा जीवन का उद्देश्य मान लेना चाहिये। क्योंकि यह व्यवस्था भगवान के शाश्वत न्याय द्वारा और भगवान की प्रेरणा द्वारा ही समाज में मौजूद है। साधनहीन सर्वसाधारण के दुखों और अवसरहीनता के लिये समाज की आर्थिक व्यवस्था जिम्मेवार नहीं। बल्कि उनके अपने मन के द्वेष और हिंसा की वृत्ति और उनके पूर्व जन्म के कर्म ही है। यदि सर्वसाधारण इस उपदेश के अनुसार अपनी दुरावस्था में भी सन्तुष्ट बने रहें तो समाज की आर्थिक व्यवस्था, वह चाहे कितनी दोष पूर्ण और अन्याय पूर्ण हो काफी समय तक चालू रह सकेगी। जनता गांधीवाद के इस उपदेश का प्रभाव जनता पर जमाने के लिये गांधीवाद द्वारा बताई गयी ईश्वर सम्बंधी धारणा पर दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है। गांधीवाद ईश्वर विश्वास का उपयोग समाज की आर्थिक व्यवस्था को यथावत रखने के लिये ही करना चाहता है। यह लक्ष्य पारलौकिक नहीं सांसारिक ही है।

259

३

सत्य-अहिंसा का प्रयोजन और आधार

नैतिकता, सदाचार और न्याय के सम्बन्ध में समाज के नियमों और सत्य-अहिंसा की धारणायें एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। सत्य-अहिंसा क्या हैं ? व्यक्ति और समाज के जीवन पर सत्य अहिंसा के व्यवहार का क्या प्रभाव पड़ता है, वे किस उद्देश्य को पूरा करते है ? सत्य और अहिंसा का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्था में रख कर व्यक्ति को अपना जीवन सुखमय बना सकने और समाज को उन्नति कर सकने का अवसर देना है या कुछ और ? सत्य अहिंसा स्वयं ही लक्ष्य हैं या व्यक्ति और समाज के कल्याण का साधन हैं ? व्यक्ति और समाज का कल्याण और जीवन की सफलता क्या समझी जानी चाहिए ? यह सब प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन सब प्रश्नों के उत्तर पर ही यह निर्भर करेगा कि सत्य-अहिंसा का रूप क्या समझा जाये।

गांधीवादी या आध्यात्मवादी लोग मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ईश्वर से साक्षात्कार करना या भगवान में लीन हो जाना ही बताते है। इसी उद्देश्य के अनुसार गांधीवाद सत्य-अहिंसा का रूप निश्चित करता है। गांधीवाद सत्य-अहिंसा का लक्ष्य समाज का सांसारिक या भौतिक कल्याण नहीं मानता बल्कि मनुष्य का पारलौकिक कल्याण मानता है। इस दृष्टिकोण से सत्य-अहिंसा इस संसार की वस्तु नहीं रह जाते बल्कि इस संसार से छुट्टी पा लेने और परलोक प्राप्ति या ईश्वर से साक्षात्कार का ही साधन बन जाते हैं। यह कैसे माना जा सकता है कि मनुष्य जीवन में सत्य-अहिंसा के नियमों के अनुसार व्यवहार तो करे परन्तु उसका प्रभाव उसके जीवन पर न पड़े ? सत्य-अहिंसा के नियमों का प्रयोग यदि मनुष्यों के परस्पर व्यवहार में होगा तो उनका पहला परिणाम या प्रभाव सांसारिक होगा, पारलौकिक प्रभाव बाद में। सत्य, अहिंसा पहिले भौतिक जीवन का ही साधन होंगी पारलौकिक जीवन का साधन बाद मे।

समाज के व्यवहार से हम सत्य-अहिंसा की धारणा का प्रभाव किस रूप में देखते हैं ? या गांधीवाद, सत्य-अहिंसा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए समाज को किस प्रकार के व्यवहार का उपदेश देता है ? गांधीवाद सत्य का 'ऊंचा' अर्थ 'परमेश्वर' बताता है। सत्य का 'व्यवहारिक' या सांसारिक अर्थ गांधीवाद बताता है "जो सत्य है वही दूर दृष्टि से हितकर अथवा श्रेष्ठ है इसलिये सत्य का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है।" अहिंसा का अर्थ गांधीवाद बताता है—"अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं है बल्कि यह मन की वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गन्ध नहीं रहती, उसका नाम अहिंसा है।"* गांधीवाद के अनुसार यही सत्य और अहिंसा की पहचान है। गांधीवाद के अनुसार सत्य 'साध्य' (लक्ष्य) और अहिंसा इस लक्ष्य को (सत्य को) प्राप्त करने का 'साधन' ही है। गांधीवाद के अनुसार सत्य का अर्थ दूर दृष्टि से हित, परमेश्वर से साक्षात्कार ही है और अहिंसा इस सत्य को (ईश्वर को) प्राप्त करने का ही साधन है। मनुष्य और समाज के जीवन को सांसारिक और भौतिक रूप में सफल बनाने का साधन नहीं।

सत्य हिंसा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

गांधीवाद के अनुसार बताई गई सत्य और अहिंसा की पहचान का व्यवहारिक रूप हम क्या देखते हैं ? मनुष्य का 'दूर दृष्टि से हित' को भूल जाना और उस के मन में द्वेष होना ही हिंसा है, यह बात ठीक है। प्रश्न यह है कि मनुष्य सत्य से विमुख क्यों होता है ? उसके मन मे हिंसा क्यों उत्पन्न हो जाती है ? व्यक्ति जन्म से ही, भगवान की इच्छा से असत्य और द्वेष की वृत्ति लेकर पैदा होते हैं, यह मान लेने का कोईकारण नहीं। कोई भी मनुष्य जड वस्तुओं लोहे, लकडी या पत्थर से द्वेष नहीं करता। जिन मनुष्यों का आपस में परिचय नहीं होता, उनमे द्वेष होने की भी संभावना नहीं रहती। मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध होने पर ही उनमे द्वेष हो सकता है। जिन लोगों से व्यक्ति को जीवन मे सहायता मिलती है या सुख पहुँचता है, व्यक्ति उन से द्वेष नहीं करता। व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों मे द्वेष उनके स्वार्थों मे संघर्ष हो जाने पर ही होता है। मनुष्यों मे द्वेष का कारण ईश्वर से साक्षात्कार करने की होड या पारलौकिक प्रयोजन नहीं हो सकता। मनुष्यों मे

---

* गांधी विचार दोहन पृष्ठ ३।

द्वेष के कारण तभी पैदा होते है जब वे अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के यत्न में वे एक दूसरे का विरोध करने लगते हैं। यह ठीक है कि व्यक्तियों मे द्वेष के कारण भौतिक या सामारिक ही होते हैं इसलिए जब गाधीवाद या आध्यात्मवाद कहता है कि मनुष्य को 'संसार का लोभ' नही करना चाहिए, मासारिक या भौतिक संघर्ष मे नही फंसना चाहिए तो जान पडता है कि बहुत अच्छी बात कही गई है। जान पडता है गाधीवाद ने द्वेप के मूल कारण का उपाय बता दिया है। मनुष्य यदि 'ससार का लोभ' न करे तो मनुष्य सत्य मे विमुख नहीं होगा। समाज मे द्वेष या हिमा का कोई कारण नही रहेगा। प्रश्न है, जैसे कि मनुष्य के लिए जीवन रक्षा का प्रयत्न करना स्वाभाविक है क्या उसी प्रकार सत्य से विमुख हो जाना और द्वेष और हिसा की वृत्ति भी उसके स्वभाव और प्रकृति का अंश है? क्या मनुष्य द्वेप और हिसा किये बिना जीवन रक्षा के प्रयत्न में और भौतिक सघर्ष मे सफलता पा ही नहीं सकता?

सत्य के पालन और समार का लोभ छोड देने का उपदेश कोई नई बात नहीं है। यह उपदेश बहुत पुराना है। इस उपदेश को जान कर भी समाज परस्पर द्वेप से नहीं बच सका, इसका क्या कारण है? सासारिक लोभ के कारण भौतिक संघर्ष क्या है? सृष्टि के अन्य जीवों की तरह मनुष्य भी जीवित रह सकने का प्रयत्न करता है। जीवित रह सकने का उपाय भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना है। भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना असत्य नहीं कहा जा सकता। यदि भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना असत्य है तो सभी जीवों का जीवन असत्य ही है। व्यक्तियों और समाज की यह आवश्यकतायें परस्पर महयोग से पूरी होती हैं। व्यक्तियों मे सहयोग होने पर किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध भी बन जाते हैं। जब तक व्यक्तियों के सहयोग और सम्बन्धों से उन की आवश्यकतायें पूरी होती रहती है उनमें परस्पर द्वेष नहीं होता बल्कि प्रेम और आकर्षण ही होता है। जब व्यक्तियों के परस्पर सम्बंध एक दूसरे के जी सकने या आवश्यकतायें पूरी कर सकने के मार्ग मे अडचन बनने लगते है तो असत्य, द्वेष, झगडा और हिसा पैदा हो जाती है। व्यक्तियो में परस्पर सम्बन्ध न होने पर उनमें द्वेष या हिसा नहीं हो सकती परन्तु व्यक्तियों मे परस्पर सहयोग और सम्बन्ध होना आवश्यक है। हम ऐसे मनुष्य की

कल्पना ही नहीं कर सकते जिसका किसी से सहयोग और सम्बन्ध न हो। मनुष्य के जीवन का ढङ्ग ही ऐसा है कि अन्य व्यक्तियों के सहयोग और सम्बन्ध के बिना उसके अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है।

हम ऐसे मनुष्य की भी कल्पना नहीं कर सकते जिसकी भौतिक आवश्यकतायें न हों। भौतिक आवश्यकताओं को पूरा किये बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता। भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का यत्न ही भौतिक संघर्ष है। भौतिक संघर्ष या सांसारिक पदार्थों को पाने के यत्न में सदा असत्य और हिंसा पैदा हो जाय, यह भी आवश्यक नहीं।

व्यक्ति और समाज के जीवन के लिए उनका सामूहिक प्रयत्न और परस्पर सहयोग अनिवार्य है। व्यक्तियों और समाज के जीवन की रक्षा के लिए उनकी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करना भी अनिवार्य है। मनुष्य का शरीर भौतिक वस्तु है और भौतिक पदार्थों पर निर्भर करता है। उसके जीवन का क्रम सृष्टि के अन्य जीवों के जीवन की भांति भौतिक संघर्ष का ही क्रम है। भौतिक संघर्ष द्वारा व्यक्ति और समाज के विकास को, उसका सामर्थ्य बढ़ने को मनुष्य का पतन बताना मनुष्य समाज के इतिहास को ठीक उल्टे रूप में पेश करना है। समाज के भौतिक साधनों का विकास होने पर न केवल व्यक्तियों के लिये जीवन रक्षा और शारीरिक सुख की सम्भावना बढ़ जाती है बल्कि उनका मानसिक और नैतिक विकास भी होता है। व्यक्ति और समाज में नैतिकता और न्याय की भावनाओं का विकास समाज के भौतिक संघर्ष में सफलता के साथ साथ ही होता है। जिन जातियों और समाजों के भौतिक साधन अविकसित रहते हैं, उनमें सामूहिक प्रयत्न, सामाजिक कर्तव्य, नैतिकता, और न्याय की भावना भी बहुत कम रहती है। ऐसे समाज के व्यक्तियों के विचार और व्यवहार केवल व्यक्तिगत और अपने परिवार के स्वार्थ तक संकुचित रहते हैं। इनमें व्यापक सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय न्याय की भावना नहीं हो सकती। इस का प्रमाण हम अपने देश की और दूसरे अनेक देशों की उन सब जातियों के विचारों और व्यवहार में देख सकते हैं जो अभी तक भौतिक सभ्यता के विकास से बहुत कम परिचित हैं। प्राय ही ऐसे अशिक्षित और अविकसित लोगों के अज्ञान और बुद्धि की कमी को

इमानदारी और उन के जीवन की संक्षिप्त आवश्यकताओं को सन्तुष्ट जीवन का नाम दे दिया जाता है परन्तु अज्ञान, बुद्धि की कमी और असामर्थ्य को इमानदारी और सन्तोष नहीं समझा जाना चाहिये।

भौतिक संघर्ष के कारण हिंसा

जीवन निर्वाह के लिए भौतिक या सासारिक संघर्ष के दो रूप होते है। भोतिक सघर्ष का एक रूप है, मनुष्य का प्रकृति से अपने निर्वाह के लिए उपयोगी और आवश्यक पदार्थों को लेना है। उदाहरणतः जंगलों से आवश्यक वस्तुयें ले लेना, पृथ्वी का खोद कर आवश्यक वस्तुओं का निकाल लेना, खेती द्वारा आवश्यक वस्तुओं को पैदा कर लेना और प्राकृतिक पदार्थों को मनुष्य के उपयोग मे आ सकने योग्य रूप दे देना, उदाहरणत मकान, कपडा या मशीनें बना लेना। ऐसे कामों मे व्यक्ति या समाज प्रकृति से संघर्ष करता है। व्यक्तियों को प्रकृति से यह सघर्ष सामूहिक रूप मे, परस्पर सहयोग से करना पडता है। यदि इस प्रकार के भौतिक सघर्ष मे या सासारिक पदार्थों को बनाने या पाने के सघर्ष मे व्यक्तियों के स्वार्थों मे एक दूसरे के व्यवहार से कोई झगड़ा न हो तो उनमे असत्य, द्वेष और हिंसा न होगी। असत्य द्वेष और हिंसा व्यक्तियों मे तब होती है जब सामूहिक रूप से परस्पर सहयोग द्वारा सासारिक पदार्थों को पा लेने के बाद उनके बटवारे का प्रश्न आता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति दूसरे के हिस्से या दूसरे के श्रम के फल को समेट लेने का यत्न करता है। या दूसरों के जीवन के प्रयत्न मे रोड़ा बनता है। द्वेष और हिंसा का कारण यह भी होता है कि समाज के अधिकार मे आवश्यक पदार्थ या ऐसे पदार्थों को उत्पन्न करने के साधन पृथ्वी, पशु आदि इतनी मात्रा में न हों कि सब की आवश्यकतायें सन्तुष्ट रूप मे पूरी हो सकें। ऐसी अवस्था मे कुछ व्यक्ति सुख, सन्तोष से रहने के लिये दूसरों की अपेक्षा अधिक पदार्थों और साधनों पर अधिकार जमा लें या कुछ व्यक्ति अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये अप्रिय लगने वाला श्रम स्वय न कर ऐसा श्रम अपने लिये दूसरों से कराने का यत्न करें, दूसरों के श्रम के फल पर सुख चैन करें। भौतिक सघर्ष के ऐसे परिणाम तब होते है जब समाज अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये सामूहिक रूप से प्रकृति से सघर्ष करके अधिक धन (आवश्यकता पूर्ति के पदार्थ) पैदा करने का मार्ग छोड व्यक्तिगत स्वार्थ से पदार्थों के लिये आपस में सघर्ष करने लगता है।

ऐसी अवस्था में समाज में दिखाई देने वाले संघर्ष के दो कारण होंगे। एक कारण हो सकता है अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक हित और स्वार्थ के लिए दूसरों के श्रम का छीनने का यत्न करना। जीवन निर्वाह के लिए इस प्रकार के संघर्ष को असत्य या हिंसा कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में असत्य और हिंसा की कसौटी दूसरे के श्रम का फल छीनने की इच्छा ही मानी जायगी। समाज में इस प्रकार का संघर्ष या हिंसा होने पर ऐसी हिंसा से बचने का प्रयत्न भी स्वाभाविक रूप से होने लगेगा। जीवन निर्वाह और आत्मरक्षा के लिए हिंसा से बचने के संघर्ष का प्रयोजन हिंसा को दूर कर अहिंसा का अधिकार प्राप्त करना होगा। हिंसा से बचने के प्रयत्न को हिंसा नहीं कहा जा सकता। गांधीवाद जीवन निर्वाह के लिए संघर्ष के पहले ढङ्ग को अर्थात पैदावार के साधनों पर जमाये हुए अधिकार से दूसरों के श्रम का फल छीन लेने को तो शाश्वत अहिंसा कहता है और ऐसी हिंसा से बचने के प्रयत्न को ही हिंसा बताता है।

समाज में नैतिकता, न्याय और सत्य-अहिंसा के व्यवहार की कसौटी-समाज के सभी व्यक्तियों के लिये जीवन रक्षा का अवसर पाना, एक दूसरे से निर्भय रहना, परस्पर सहयोग और जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकना ही माना जाना चाहिये। यह सभी लक्ष्य भौतिक हैं। इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य-समाज अपने भौतिक साधनों का विकास कर जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के भौतिक संघर्ष में सफल हो सकें। भौतिक संघर्ष की उपेक्षा करके समाज संतोष और विकास की ओर नहीं बढ़ सकता। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के साधनों का विकास न कर प्रकृति द्वारा उत्पन्न अवस्था में ही जीवन निर्वाह करते रहना पशुता का लक्षण है।

यदि हम समाज की नैतिकता और न्याय को सर्वज्ञ और न्यायकारी भगवान के आदेशों के अनुसार चलता ही हुआ मान लें तो भी यह मानने का कोई कारण नहीं कि भगवान अधिकांश मनुष्यों को असहाय निर्बल, भूखा-नंगा और अनेक रोगों से पीड़ित और एक दूसरे से भयभीत देख कर प्रसन्न होगा या समाज के अधिकांश लोगों का पीड़ित और असंतुष्ट अवस्था में रहना सत्य-अहिंसा द्वारा भगवान के साक्षात्कार का मार्ग है। यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि भौतिक रूप

से दुखी और असहाय मनुष्य के लिये भगवान के साक्षात्कार का अवसर अधिक है।

यह जान कर कि मनुष्यों का परस्पर सहयोग अनिवार्य है और जीवन की रक्षा और विकास के लिये भौतिक संघर्ष भी अनिवार्य है और यह मान कर कि सत्य अहिंसा व्यक्ति के जीवन को पूर्णता देने और समाज में सुव्यवस्था की रक्षा का साधन है। सत्य-अहिंसा का ऐसा रूप निश्चित करना आवश्यक है जो समाज के व्यक्तियों, समूहों या श्रेणियों मे द्वेष के कारण उत्पन्न न होने दें। यह निर्विवाद है कि भौतिक संघर्ष व्यक्ति और समाज के जीवन की रक्षा के लिये अनिवार्य है। व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से जीवन रक्षा के साधनों को पाने और इन साधनों का विकास करने के प्रयत्न या भौतिक संघर्ष समाज मे द्वेष के कारण पैदा नही करते। समाज मे द्वेष और हिंसा के कारण तब उत्पन्न होते है जब व्यक्ति जीवन की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये परस्पर सहयोग द्वारा प्रकृति से संघर्ष न कर समाज के दूसरे व्यक्तियों से होड, छीना-झपटी और संघर्ष करने लगते हैं।

द्वेष और हिंसा का कारण मनुष्यों का अपनी भौतिक आवश्यकतायें पूरा करना नही है। वलिक द्वेष और हिंसा का कारण मनुष्यों का अपनी आवश्यकतायें छीना-झपटी के अनुचित तरीके से पूरा करना है। जीवन की रक्षा और विकास के लिये भौतिक पदार्थों को अपनाना या भौतिक संघर्ष ही व्यक्तियों और समाज के जीवन का आधार है इसलिये उससे समाज को हानि पहुँचाने वाली हिंसा और द्वेष की प्रवृत्ति उत्पन्न नही हो सकती। हिंसा और द्वेष का कारण व्यक्तियों का व्यक्तिगत स्वार्थ का दृष्टिकोण ही होता है। हिंसा और द्वेष से वच कर भौतिक संघर्ष मे सफलता पाकर व्यक्ति और समाज को सुखी और समृद्ध बनाने का उपाय व्यक्तिगत स्वार्थ के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को छोड़ कर सामूहिक और सामाजिक हित के समाजवादी दृष्टिकोण से सत्य-अहिंसा का निर्णय करना ही है।

३

हिंसा-अहिंसा का आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टिकोण

गांधीवाद हिंसा या द्वेष को मनुष्य के हृदय का पाप बताता है। गांधीवाद या ईश्वर की आज्ञाओं के अनुसार चलने का दावा करने वाले सम्प्रदाय हिंसा को परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध अपराध और अहिंसा को परमेश्वर को प्रसन्न करने और परमेश्वर से साक्षात्कार पाने का मार्ग बताते हैं। इस प्रयोजन और परिभाषा के अनुसार अहिंसा एक पारलौकिक और आध्यात्मिक वस्तु बन जाती है और उसके रूप का निश्चय व्यक्ति और उसके समाज के हाथ की बात नहीं जान पड़ती। अहिंसा को आध्यात्मिक वस्तु या परलोक प्राप्ति का साधन बता कर भी गांधीवाद और ईश्वरवादी सम्प्रदाय अहिंसा का व्यवहारिक रूप किसी से द्वेष न करना और किसी को दुख न देना ही बताते हैं। मनुष्य के लिये दुख का सबसे बड़ा कारण उस से जीवित रहने का अवसर या उसका धन छीन लिया जाना है। जीवन में सन्तोष देने वाले या जीवन रक्षा के लिए आवश्यक और उपयोगी पदार्थ, और ऐसे पदार्थों को उत्पन्न करने के साधन ही धन हैं इसीलिये धर्म और अहिंसा की व्याख्या करते हुए सभी सम्प्रदायों में किसी का धन चुरा लेना या जबरदस्ती छीन लेना ही सब से बड़ा पाप या हिंसा बताई गई है। ऐसा व्यवहार न करना ही अहिंसा और सत्य का पालन माना गया है तथा ईश्वर से साक्षात्कार का मार्ग बताया गया है।

मनुष्य के जीवन की रक्षा करने वाले और उसके लिये उपयोगी सभी पदार्थ भौतिक वस्तुयें हैं। इन पदार्थों का एक दूसरे से छीनना या न छीनना भी मनुष्य का भौतिक व्यवहार है। इस दृष्टि से हिंसा का

अर्थ मनुष्यों के भौतिक या सांसारिक जीवन में वाधा डालना और अहिंसा का अर्थ दूसरे व्यक्तियों के सांसारिक या भौतिक जीवन में वाधा न डालना ही है। हिंसा और अहिंसा मनुष्य के भौतिक व्यवहार के रूप और परिणाम हैं। ऐसी अहिंसा को यदि आध्यात्मिक वस्तु कहा जाय तो इस आध्यात्मिकता को मनुष्य के भौतिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। इस आध्यात्मिकता का प्रयोजन समाज के जीवन निर्वाह की या आर्थिक व्यवस्था की रक्षा करना ही है। इस अहिंसा के पालन से परलोक में जिस परमेश्वर से साक्षात्कार होगा। उसका सांसारिक रूप समाज में मौजूद आर्थिक व्यवस्था ही है।

समाज की सुव्यवस्था के लिये अहिंसा अर्थात् व्यक्तियों से उनका धन न छीनने के नियम का पालन आवश्यक है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हिंसा या अहिंसा का मूल व्यक्ति और धन के सम्बन्ध में है। इसलिये हिंसा या अहिंसा का निर्णय करने के लिये व्यक्ति और धन के सम्बन्ध की नैतिकता का निर्णय करना ही मौलिक प्रश्न है। किसी से धन छीन लेने का अर्थ धन के उचित, न्यायपूर्ण मालिक से उसका धन छीना जाना है परन्तु धन का मालिक किस व्यक्ति को समझा जाय? धन या वस्तुओं पर उचित और न्यायपूर्ण स्वामित्व के अधिकार की कसौटी क्या मानी जानी चाहिये?

मनुष्य के लिये उपयोगी अनेक पदार्थ या धन प्रकृति में पाये जा सकते हैं और अनेक पदार्थों को मनुष्य के श्रम से बनाना पड़ता है। जंगलों से फल, लकड़ी या भूमि से मकान आदि बनाने के लिये आवश्यक पदार्थ लिये जा सकते हैं। नदी या तालाव से जल लिया जा सकता है। मनुष्य के लिये उपयोगी पदार्थों के प्रकृति में रहने पर भी उन्हें प्राप्त करने के लिये श्रम की आवश्यकता होती है। मनुष्य का श्रम ही प्राकृतिक पदार्थों को उपयोग के योग्य बना कर धन का रूप दे देता है। प्रश्न यह है कि पदार्थों पर अधिकार उन्हें धन बनाने के लिये श्रम करने वाले व्यक्ति का माना जाय या किसी दूसरे व्यक्ति का? इस प्रश्न का उत्तर बहुत सीधा नहीं है। हम अपने अनुभव से देखते हैं कि धन बनाने या पैदावार के लिये श्रम करने के लिये मनुष्य को साधनों की भी आवश्यकता होती है। जंगल में घास या लकड़ी रहती है परन्तु खुरपी या कुल्हाड़ी के बिना घास या लकड़ी सुविधा से पर्याप्त मात्रा में नहीं प्राप्त की जा सकती। पृथ्वी के भीतर जल है और अन्न

उपजाने की शक्ति है परन्तु साधनों के बिना पृथ्वी से जल पाने या अन्न उपजाने का श्रम नहीं किया जा सकता। केवल जंगल और पृथ्वी से उपयोगी पदार्थों को प्राप्त करने के हथियारों को ही साधन नहीं माना जाता, समाज मे ऐसी भी अवस्था आ जाती है जब जंगल और पृथ्वी को भी साधनों या धन की श्रेणी मे गिन कर व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लिया जाता है।

मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिये उपयोगी पदार्थ या धन मनुष्य के श्रम और साधनों के सहयोग से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले धन पर श्रम करने वाले का अधिकार माना जाय या साधनों के स्वामी का? श्रम और साधनों के सहयोग से उत्पन्न धन में हिस्सा-बाट के लिये क्या सिद्धान्त और अनुपात माना जाय? यही प्रश्न सामाजिक दृष्टि से हिंसा और अहिंसा का निर्णय करता है। सामन्त-वादी और पूंजीवादी समाज की अहिंसा की धारणा के अनुसार श्रम और साधनों के सहयोग से उत्पन्न धन पर मुख्य अधिकार साधनों के स्वामी का ही समझा जाता है। गाधीवाद और आध्यात्मवाद के अनुसार पैदावार के साधनों और सम्पत्ति पर क्रमागत स्वामित्व के अधिकार की रक्षा करना ही अहिंसा है। इसके विपरीत इस नैतिकता के अनुसार साधनहीनों का साधनों पर अधिकार करने की इच्छा और प्रयत्न हिंसा का मूल है। समाज मे हिंसा का यह कारण दूर रखने के लिये ही गाधीवाद भौतिक संघर्ष और संसार के लोभ से दूर रहने का उपदेश देता है। यह समझ लेना कठिन नहीं कि गाधीवाद का यह उपदेश साधनवानों के लिये नहीं मुख्यता साधनहीनों के लिये ही है क्योंकि साधनहीन के संघर्ष मे ही व्यवस्था को बदलने वाली हिंसा भी आरम्भ होती है। दास प्रथा के युग में दासों के श्रम से उत्पन्न धन पर श्रम करने वाले दासों का नहीं बल्कि दासों के स्वामी का ही अधिकार न्यायपूर्ण माना जाता था। साधनों का स्वामी साधनहीन को अपनी सम्पत्ति के उपयोग से जीविका कमाने का अवसर देने के मूल्य में उसके श्रम के फल का अधिकांश भाग ले लेता है। दास प्रथा, जमीन्दारी प्रथा, स्वामी सेवक और मालिक मजदूर के सम्बन्ध न्याय की इसी धारणा के उत्तरोत्तर परिवर्तित होते हुए रूप हैं। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधि-कार और ऐसे अधिकार द्वारा दूसरे के श्रम से लाभ उठाने के अधिकार को अहिंसा और न्याय समझने वाली व्यवस्था मे, इस व्यवस्था के मूल

सम्पत्ति के अधिकार पर चोट आती अनुभव होती है, हिंसा और पाप समझ लिया जाता है। सामन्तवादी और पूंजीवादी समाज की सम्पूर्ण नैतिकता और सत्य-अहिंसा की धारणा इसी अहिंसा को समाज के जीवन पर लागू करने का प्रयत्न है। सामन्तवादी और पूंजीवादी समाज धन पैदा करने के साधनों पर कुछ व्यक्तियों के स्वामित्व और उससे मुनाफा पाने के अधिकार को शाश्वत न्याय, सत्य और अहिंसा के रूप में स्वीकार करता है और इस सत्य और अहिंसा की रक्षा को ही समाज का आधार मान कर, सब से अधिक महत्व देता है। इस अहिंसा से गिर जाना वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध और पाप समझता है। गाधीवाद के सत्य और अहिंसा की धारणा का मूल आधार यही विश्वास है।

सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और उसके द्वारा दूसरे के श्रम से लाभ उठाने के अधिकार की अहिंसा को यथावत रखने के लिये समाज पर शासन करने वाली मालिक श्रेणी शस्त्रों और व्यवस्था के सभी सांसारिक साधनों का उपयोग करती है। इन सांसारिक साधनों की एक सीमा है इसलिये मालिक श्रेणी के विचारक अपनी श्रेणी के हित की रक्षा के लिये आध्यात्मिक साधनों का आविष्कार कर लेते हैं। इसी आध्यात्मिक साधन के रूप में गाधीवाद साधनहीनों को संसार का लोभ न कर अपनी आवश्यकतायें कम रख कर संतोष से शान्ति पाने का उपदेश देता है। यह रहस्य जान कर कि साधनहीनों के सांसारिक संतोष के लिये साधनों को प्राप्त करने की इच्छा, सम्पत्ति की मालिक श्रेणी के अधिकारों के लिये सब से बड़ा खतरा है, इस श्रेणी के विचारकों और गाधीवाद ने अहिंसा का अर्थ यह निश्चित कर दिया है कि समाज में पैदा होने वाले धन पर साधनों के स्वामी का ही अधिकार मुख्य और श्रम करने वाले का गौण है। श्रम करने वाला साधनों के मालिक की दया से जो पा जाय उसी से उसे संतोष कर लेना चाहिये। यही साधनहीन का सामाजिक और पारलौकिक धर्म है।

आध्यात्मवाद और गाधीवाद के अनुसार धन पर साधनों के स्वामी के अधिकार के विश्वास ने ही इस प्रकार के नैतिक उपदेशों को जन्म दिया है कि प्रजा, दास, सेवक या मजदूर का धर्म अपने स्वामी का हित पूरा करने के लिये प्राण दे देना ही है। दास, सेवक या मजदूर को कभी स्वामी बनने का विचार या आशा नहीं करनी चाहिये। इसी सामंतवादी पूंजीवादी धारणा का समर्थन अहिंसा के नाम पर

करने के लिये गाधीवाद मजदूरों के जीवन का आदर्श यह निश्चित करता है—"शूद्र का तो कहना ही क्या? उसके पास कोई मिल्कीयत कभी होने वाली ही नही है इसलिये जो शूद्र केवल धर्म समझ कर परिचर्या ही करता है और जिसे मालिक होने का लोभ तक नहीं है, वह हजार बन्दना के योग्य है और सर्वोपरि है।* गाधीवाद शूद्र, दास, सेवक और मजदूर की स्तुति करने और उन्हे सर्वोपरि मान लेने के लिये तैयार है यदि वे स्वयं मालिक होने की इच्छा न करे। शूद्र की ऐसी स्वयं स्वीकार की हुई दासता ही मालिक के अधिकारों की सब से बडी रक्षा और जमानत हो सकती है।

इस सामतवादी और पूजीवादी नैतिकता के अनुसार ही गाधी जी ने भारत के लिये स्वराज्य या रामराज्य का आदर्श बताते हुए साधनहीन सर्वसाधारण के आर्थिक रूप से स्वतत्र हो जाने या आत्म-निर्णय का अधिकार पाने का लक्ष कभी जनता के सामने नही रखा। इसके विपरीत गाधीजी ने साधनहीनों को समझाया है कि—"अमीरी अमीर को सुखी नही बनाती न गरीबी गरीब के दुख का कारण होती है। ' करोडों को तो गरीब ही रहना है इसलिये उन्हे भोग वासना छोडनी चाहिए।' + गाधीवाद जिस अहिंसा या आर्थिक व्यवस्था को समाज के लिए आदर्श बताता है, उसके अनुसार वह समाज मे करोडों का गरीब रहना स्वाभाविक, आवश्यक और सामाजिक न्याय समझता है। गाधीवाद के अनुसार मालिक श्रेणी के अस्तित्व और अधिकार ही अहिसा है समाज मे कुछ लोग तभी मालिक और अधिक अधिकार सम्पन्न हो सकते है जब लाखों व्यक्ति असहाय अवस्था मे उनकी इच्छा के अनुसार पशुवत कार्य करने के लिए विवश हों। गाधीवादी अहिंसा की दृष्टि से समाज मे साधनवान और साधनहीन दोनों ही श्रेणियों का रहना आवश्यक है। साधनहीनों और दरिद्रों के असह्य जीवन को सह्य बना देने का उपाय गाधीवाद की दृष्टि मे इन लोगों का आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाना नहीं बल्कि इन लोगों का त्याग की भावना से ससार का लोभ न कर अपनी अवस्था मे सतुष्ट बने रहना है। यदि साधनहीन, दरिद्र अपनी अवस्था को ईश्वरीय न्याय मान कर जीवन रक्षा के लिए आवश्यक साधनों को पाने की चेष्टा न

---

* गाधी विचार दोहन पृष्ट २६ तीसरा सस्करण

\+ हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ५० चौथा सस्करण

करें तो उन के शनै शनै नष्ट हो जाने पर भी साधनों की मालिक श्रेणी के लिये किसी प्रकार की "हिसा" की आशका का अवसर नही रहता। यही गाधीवादी अहिसा का प्रयोजन है।

त्याग द्वारा अहिसा

गाधीवाद के अनुसार सामाजिक और व्यक्तिगत अशान्ति का कारण मनुष्यों का भौतिक या सासारिक सघर्ष में फंस कर द्वेष और हिसा में डूब जाना है। सासारिक संघर्ष को समाज में अशान्ति का कारण मानने का सीधा अर्थ है, जो लोग साधनों के अभाव में सन्तोष नही पा सकते वे साधनों को पाने की चेष्टा करते हैं। समाज की अवस्था ऐसी नही है कि साधन फालतू पड़े हों जो चाहे उन्हे अपना ले। साधनों पर कुछ लोगों ने अधिकार जमाया हुआ है। जब साधन-हीन साधन पाने का यत्न करते है तो साधनों क वर्तमान स्वामियों और साधनहीनों मे सघर्ष आरम्भ हो जाता है। यह सघर्ष व्यक्तिगत रूप मे ही नही श्रेणियों के रूप मे प्रकट होने लगता है। सघर्ष का कारण साधनहीन श्रेणी का साधनों को पाने की चेष्टा करना और साधनवान श्रेणी का साधनों पर केवल अपना ही अधिकार बनाए रखने की चेष्टा करना है। गाधीवाद इस प्रकार के सघर्ष को समाज के लिये आर्थिक और आध्यात्मिक रूप से हानिकारक समझता है। गाधीवाद समाज मे मौजूद विकट आर्थिक विपमता को स्वीकार करता है। समाज से ऐसी विपमता दूर करना भी आवश्यक समझता हे परन्तु इस विषमता को दूर करने का उपाय समाज से साधनों के स्वामित्व की विषमता दूर करने के लिए समाज के पैदावार के साधनों का समाजी-करण करके सब लोगों को जीवन निर्वाह का समान अवसर और आत्मनिर्णय का अधिकार देना नही समझता। गाधीवाद के विचार में सासारिक सघर्ष का मुख्य कारण मनुष्य के हृदय में सासारिक लोभ ही है। गाधीवाद का उपदेश है कि भौतिक साधनों को पा लेने से मनुष्य को शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति का उपाय सब लोगों को जीवन की आवश्यकता पूर्ति का अवसर दे देना नही भोग विलास की इच्छा और ससार का लोभ छोड त्याग की भावना से संतोप पाना है।

समाज से हिसा और सघर्प दूर करने का उपाय गाधीवाद सामू-हिक हित को लक्ष्य मान कर साधनहीन और साधनवान श्रेणियों-सेवक और रक्षक या पिता पुत्र का सम्बन्ध कायम कर आपसी

विश्वास और प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करना बताता है। इसी विश्वास के अनुसार गाधीजी ने मजदूरों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करने का उपदेश न देकर अपना भाग्य स्वामी श्रेणी के हाथ सौंपने का ही उपदेश इस प्रकार दिया है—"उनकी सच्ची भलाई धर्म का पालन करने मे है। उन्हे ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए, उसके लिए सत्य-अहिंसा का पालन आवश्यक है। इसी का दूसरा नाम प्रेम है। जहा प्रेम है, वहा जीवन है, जहा घृणा है वहा नाश है।"* इस उपदेश में मजदूरों की असन्तुष्ट और मोहताज अवस्था का उपाय उनके आत्मनिर्भर बनने की चेष्टा नही माना गया बल्कि मजदूरों का मालिक श्रेणी के प्रति प्रेम से उस श्रेणी के कल्याण के लिये आत्मबलिदान द्वारा सन्तुष्ट हो जाना ही बताया गया है। इस उपदेश से गाधीजी ने मजदूरों के सब सकट दूर हो जाने की आशा दिलाई है।

गाधीवाद का यह उपदेश सुनने में अच्छा लग सकता है परन्तु इस उपदेश का व्यवहारिक और क्रियात्मक रूप क्या होगा ? समाज में भिन्न भिन्न अवस्थाओं मे रहने वाले लोग या श्रेणिया त्याग के उपदेश पर किस ढग से आचरण कर सकते है ? भिन्न भिन्न श्रेणियों के त्याग का परिणाम स्वय उस श्रेणी के लिये और दूसरी श्रेणियों के लिये क्या होगा ? समाज मे बहुत बडी सख्या ऐसे लोगों की है जिन्हे पेट भर भोजन पाने या कठिनाई से अपना शरीर ढक सकने का भी अवसर नही, जो लोग रोग या सकट पडने पर उस से रक्षा का कोई उपाय नही कर सकते। यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के लोगों की या इस श्रेणी की सख्या बढती ही जा रही है। ऐसे लोगों को असतुष्ट तो कहा जायगा परन्तु उन्हे ससार के लोभ से अथवा भोग-विलास की इच्छा से अंध नही कहा जा सकता। ऐसे लोगों से यदि जीवन के लिये आवश्यक भौतिक साधनों की इच्छा न करने की आशा की जाय तो इसका अर्थ होगा कि वे जीवित रह सकने के लिये अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के लिये भी प्रयत्न न करें। यह लोग जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों को पा कर सतुष्ट रहे जैसा कि साधनवान मालिक श्रेणी चाहे। इस श्रेणी के ऐसे सन्तोष को गाधीवाद प्रेम या भोगविलास से मुक्ति बताता है।

---

* या ग इण्डिया, ६ अक्टूबर १९२०

भोग विलास की इच्छा या सांसारिक पदार्थों के अनुचित लोभ का क्या अर्थ समझा जाना चाहिए ? साधनवान व्यक्ति के जरीदार रेशम के कपड़े पहनने को या अपने सन्तोष के लिये दूसरों को कपड़ा बांटने को तो हम न्याय कहें परन्तु साधनहीन के अपना या अपनी सन्तान का तन ढंकने की इच्छा को संसार का लोभ समझ लें ? भूखे और नंगे व्यक्ति का भोजन-वस्त्र के लिए इच्छा और यत्न करना संसार का लोभ और भोग विलास की इच्छा नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रयत्न करना मनुष्य का अपने जीवन के प्रति प्राकृतिक कर्तव्य है। यह कैसे मान लिया जाय कि कुछ लोगों की प्राकृतिक आवश्यकताएं अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक होना उचित और न्याय है और कुछ लोगों का भूखा और नंगा रहना ही न्याय है। ऐसे लोगों की अपनी अवस्था सुधारने के प्रयत्नों को अनुचित लोभ या अहिंसा की प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत समाज में पैदा होने वाले धन को अपने श्रम के परिणाम से अधिक या सामाजिक भाग के अनुपात से अधिक भोगने की इच्छा या व्यवहार को अनुचित लोभ कहा जाना चाहिये। पैदावार के साधनों और पदार्थों को अपने अधिकार में कर जीवन में सन्तोष पाने या जीवन रक्षा कर सकने का अवसर दूसरों से छीन लेने की वृत्ति या व्यवहार को भी संसार का अनुचित लोभ या भोग-विलास में अन्धा हो जाना कहा जायेगा।

जब कोई व्यक्ति अपने सामाजिक भाग से या अपने श्रम के परिणाम से अधिक पदार्थों या साधनों पर अधिकार कर लेता है तो दूसरों के लिये अवसर की कमी से समाज में विषमता, अशान्ति और हिंसा पैदा हो जाती है। संसार का ऐसा लोभ या भोग विलास की इच्छा केवल साधनों की मालिक श्रेणी कर सकती है। दूसरों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य और शक्ति होने पर ही किसी की हिंसा की जा सकती है। साधनहीन श्रेणी अपने जीवन की रक्षा के लिये उचित और आवश्यक पदार्थों को भी नहीं पा सकती। अपने भाग से अधिक दूसरे के भाग का धन पा लेने का अवसर या यत्न साधनहीन श्रेणी के लिये कल्पनातीत है। परन्तु सामन्तवाद और पूंजीवाद का न्याय और गांधीवाद की आध्यात्मिक विचारधारा भोग-विलास की इच्छा और संसार का लोभ छोड़कर त्याग द्वारा सन्तोष और सुख पाने का उपदेश उसी वर्ग को देते हैं जो सांसारिक या भौतिक साधनों के अभाव में असन्तुष्ट हैं।

यदि यह साधनहीन वर्ग अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भौतिक साधनों को प्राप्त करने का यत्न सामूहिक और सगठित रूप मे करेगा तो समाज की वर्तमान अवस्था मे सम्पूर्ण साधनों पर अधिकार जमाये हुए साधनवान श्रेणी की सत्ता और एकाधिकार पर चोट आयगी। साधनहीन श्रेणी की जीवित रह सकने के लिये यह मार्ग और प्रयत्न साधनवान श्रेणी को अन्याय और हिंसा जान पडती है। साधनवान श्रेणी द्वारा साधनहीन श्रेणी को कठिनाई से पेट भरने मात्र का अवसर देकर उन के श्रम के फल (मुनाफे) को हथियाते जाना सामन्तवाद, पूंजीवाद और गाधीवाद की दृष्टि मे अन्याय और हिंसा नही। ऐसी व्यवस्था उन की दृष्टि मे क्रमागत शाश्वत सत्य अहिंसा और न्याय है।

गाधीवाद समाज को अशान्ति, आपसी सघर्ष और हिंसा से बचाना चाहता है इसलिये वह समाज की बहुसख्यक साधनहीन श्रेणी को उपदेश देता है कि सन्तोष पाने का उपाय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने का यत्न करना नहीं है बल्कि अपनी आवश्यकताओं को ससार का मायाजाल समझ कर इन्हे दबा देना है। स्वय अथवा हमारे परिवार क भूखे नगे होने पर उचित आवश्यक अन्न-वस्त्र पाने की चेष्टा करने से सतोष नहीं होगा बल्कि ऐसे कष्ट को कष्ट न मानने से ही सतोष होगा। गाधीवाद आवश्यकताओं से पीडित साधनहीनों को समझाता है कि "अमीरी अमीर को सुखी नहीं बना सकती।" अमीरों की तरह जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन पाने की चेष्टा करना व्यर्थ है और हिंसा का मार्ग है। तुम जीवन के साधनो का लोभ मत करो, उन्हे अमीरों के पास ही रहने दो और मालिकों या अमीरों से प्रेम करक अपना जीवन सफल बनाओ। गाधीवाद क इस उपदेश से कितने साधनहीन लोग अपने जीवन म अभावों से पीडित रह कर ईश्वर का साक्षात्कार पा सके हैं, कहना कठिन है। हॉ, यह निश्चित है कि यदि साधनहीन श्रेणी जीवन रक्षा के भौतिक साधनों को पाने की इच्छा और चेष्टा छोड़ दे तो इससे साधनवान, मालिक श्रेणी के अधिकारो पर आने वाली ऑच दूर रह सकती है और गाधीवादी अहिंसा का लक्ष्य पूरा हो सकता है।

हम अपने समाज में साधनवान मालिक श्रेणी के व्यवहार में अनेक विचित्र बातें देखते हैं। यह लोग भौतिक पदार्थों, पैदावार क

साधनों और धन को केवल अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ही नही बटोरते वल्कि धन से धन को वढाने के लिये ही धन को अपने अधिकार में करने की चेष्टा करते है। हम देखते है एक मिल का मालिक दो या चार और मिलों पर अपना अधिकार फैलाने की चेष्टा करता है। दस या पन्द्रह मिलों का मालिक चालीस या पचास मिलों को अपने स्वामित्व में लेने की चेष्टा करता है। साधनवान श्रेणी मे अपना धन बढ़ाने की इस इच्छा का कारण भौतिक, शारीरिक या स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने की चिन्ता नही होती। मालिक श्रेणी का कोई भी आदमी जिसकी आय पन्द्रह-वीस हजार रुपया माहवार हो, अपनी आय को लाख या डेढ़ लाख तक ले जाने की चेष्टा अवश्य करता है। उसकी इस चेष्टा का कारण यह नही कि पन्द्रह वीस हजार रुपये की आमदनी में उसकी आवश्यकतायें अपूर्ण रहती हैं। आमदनी सौ गुणा वढ जाने पर कोई व्यक्ति अपने भोजन की मात्रा नहीं बढ़ा सकता, गेहूं की जगह सोना नही खा सकता, एक जोड़े कपडे की जगह दस जोड़े कपडे नही पहन सकता और न एक साथ दस-बीस गाड़ियों मे ही बैठ सकता है। इन लोगों की अपना धन बढाने की इच्छा या लोभ का रहस्य जीवन की वस्तुओं का अभाव नही वल्कि अपनी प्रभुता को बढ़ाने की इच्छा ही होती है।

इस श्रेणी के लोग अपने बढ़े हुए धन को वैंकों या खजानों मे व्यर्थ पडा देखकर भी दुखी होते हैं और उस धन से और अधिक धन कमाने के अवसर और क्षेत्र की चिता करते हैं जैसा कि सामन्तवादी और राजसत्ता के युग मे राजाओं और सम्राटों मे अपना साम्राज्य बढ़ाने की इच्छा होती थी। सिकन्दर यूनान से ससार विजय करने के लिए इस कारण नही निकला था कि यूनान मे उसे खाने-पहरने की कमी थी। सम्राट अकवर राजस्थान को वार-वार जीतने का प्रयत्न इसलिए नहीं करता था कि उसके दस्तरखान में कवाव और कोरमे की कमी थी या उसका मन जवाहरात से नही भरा था। जीवन की भौतिक आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर भी प्रचीन सम्राटों मे दूसरों के देश जीतने की लालसा क्यों वनी रहती थी, इसका कारण कवि कालिदास ने महाराज रघु या उन जैसे दिग्विजयी सम्राटों की स्तुति करते हुए यह वताया है कि "ऐसे प्रतापी सम्राट धन का लालच नही करते। वे अपनी कीर्ति और प्रभुता को वढ़ाने का ही लोभ करते हैं।" अपनी कीर्ति और

प्रभुता बढ़ाते जाने के लिये वे सम्राट अपने से निर्बल राजाओं का देश जीतते थे। कीर्ति बढ़ाने के लिये किये गये इन युद्धों में हजारों लाखों व्यक्तियों का संहार होता था और सम्राट को दिग्विजयी होने का संतोष हो जाता था। वास्तव में इन दिग्विजयों का अभिप्राय अपनी सीमा के ऐसे राज्यों और राजाओं को वश में कर लेना था जिनसे आक्रमण का भय हो। इन युद्धों और दिग्विजयों का कारण सम्राटों की पारस्परिक होड़ और प्रतिस्पर्धा ही थी।

समाज का शासन सामन्तवाद की जगह पूँजीवाद के हाथ में आ जाने पर सम्राटों और सामन्तों की प्रतिस्पर्धा पूंजीपतियों में आ गई है। सामन्ती युग की व्यवस्था में शस्त्र शक्ति या सैनिक शक्ति ही प्रमुख थी। पूंजीवादी युग में प्रमुख शक्ति पूंजी बन गयी है। आज साम्राज्य का विस्तार सेनाओं की शक्ति की अपेक्षा पूंजी की शक्ति से अधिक सफलता पूर्वक होता है। आज पूंजीपति पूंजी से वही शक्ति पा लेता है जो सामन्तकाल में सेनायें और किले बना कर प्राप्त की जाती थी। पूंजीपति पहले अपने देश के पूंजीपतियों से होड़ कर अपने देश में अपनी पूंजी का राज्य या प्रभुता बढ़ाता है और फिर अन्तरराष्ट्रीयक्षेत्र में दूसरे देशों के पूंजीपतियों से होड़ कर व्यवसायिक और व्यापारिक विश्वविजय की चेष्टा करता है। भिन्न भिन्न देशों का शासन स्थानीय पूंजीपति वर्ग के मुखियाओं के हाथों में होने से पूंजीपतियों की अन्तरराष्ट्रीय होड़ अन्तरराष्ट्रीय युद्धों का रूप लेती आई है।

पूंजीपति स्वयं अपने देश में अपनी आर्थिक शक्ति को बढ़ाने के लिये और फिर अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में एकाधिकार स्थापित करने के लिये जैसे आर्थिक आक्रमण करते हैं उनसे प्राचीन युद्धों की अपेक्षा कम नर संहार और सार्वजनिक विपत्ति नहीं आती। अन्तरराष्ट्रीय युद्धों में करोड़ों लोगों का मारा जाना और अनेक देशों में मानव समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले अनेक वर्षों के प्रयत्नों से बनाये साधनों का नाश हो जाना, हम लोगों की पीढ़ी के लिये जानी हुई बातें हैं। इसी प्रतियोगिता में आज संसार के सबसे बड़ी पूंजीपति एटम की शक्ति की धौंस दे रहे हैं। देश के भीतर पूंजीपतियों द्वारा मुनाफे के साधन से धन बटोर कर अपनी शक्ति बढ़ाने के परिणाम में अन्न वस्त्र के कृत्रिम अकालों में करोड़ों व्यक्तियों का ध्वंस हो जाना साधारण बात हो गई है। इसका जग जाना।उदाहरण १९४३ में बंगाल का अकाल था

जब देश में चावल की कमी न होते हुए भी चावल के व्यापारियों की व्यवसायिक व्यूहबन्दी के कारण बंगाल में तीस लाख आदमी भूख की ज्वाला में नष्ट हो गये। आध्यात्मवाद और गांधीवाद समाज से विषमता दूर करने और राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति की बातें तो करते हैं परन्तु समाज में विषमता और राष्ट्रों में प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करने के मूल कारण, पैदावार के साधनों पर व्यक्ति के स्वामित्व और उससे मुनाफा कमा सकने के अधिकार को शाश्वत सत्य और अहिंसा बता कर, उसे बनाये भी रखना चाहते हैं।

गांधीवाद और आध्यात्मवाद संसार का लोभ छोड़ कर त्याग से संतुष्ट होने का उपदेश उसी वर्ग को देते हैं जो सांसारिक साधनों से हीन है। आध्यात्मवाद का यह व्यवहार और नीति क्रमागत है। आध्यात्मवाद ने राजा सामन्त और श्रेष्ठि (धनपति) को सदा ही अपना राज्य और धन बढ़ाने का उपदेश दिया है और साधनहीनों को त्याग द्वारा संतोष का*। दक्षिण अफ्रीका में भारतीय व्यवसायियों से व्यवसाय का अवसर छीना जाने पर गांधीजी ने उन्हें संसार का लोभ छोड़ ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये भारत लौट आने का उपदेश नहीं दिया बल्कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिये आमरण सत्याग्रह के संघर्ष का उपदेश दिया था। ऐसे दृष्टिकोण और नैतिक विश्वास का आधार यही धारणा है कि समाज का एक अंश साधनों का स्वामी होने के लिये पैदा हुआ है और कुछ लोग पैदावार का साधन मात्र बनने के लिये या समाज में उत्पन्न धन और साधनों पर स्वामी श्रेणी के अधिकार की रक्षा ही न्याय है। साधनों का स्वामित्व मनुष्य-समाज के निर्णय की बात नहीं बल्कि मनुष्य से ऊंची किसी शक्ति द्वारा निश्चित है। साधनों पर परम्परागत स्वामित्व की रक्षा करना ही शाश्वत सत्य और चरम अहिंसा है। इस सत्य-अहिंसा का मार्ग साधनहीनों का आर्थिक रूप से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होने के लिये यत्न न करना अर्थात् करोड़ों का गरीब बने रहना ही है।

साधनों के न्यायपूर्ण स्वामी ?

समाज में अहिंसा का व्यवहारिक रूप सम्पत्ति और साधनों पर व्यक्ति के अधिकार से सम्बन्ध रखता है। सम्पत्ति और साधनों पर

---

* महाभारत शान्ति पर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश

व्यक्ति के न्यायपूर्ण अधिकार की कसौटी क्या मानी जानी चाहिये ? यदि हम समाज मे मौजूद पैदावार के साधनों पर विचार करें तो बीते हुए समय की तुलना में नये-नये साधनों को बनता देखते हैं।

पैदावार के साधन किस प्रकार बनते हैं ? उन पर व्यक्तियों का स्वामित्व कैसे हो जाता है ? साधनों पर अधिकार इन्हे बनाने के लिये श्रम करने वाले का होना चाहिये या किसी दूसरे का ? बहुत प्राचीन काल में पैदावार के साधन बहुत ही परिमित थे। जिस समय मनुष्य अपनी आरम्भिक अवस्था मे था वह पैदावार के बहुत कम साधन व्यवहार मे लाता था। इन साधनों को वह व्यक्तिगत रूप से ही बना भी लेता था। उदाहरणत लाठी, पत्थर या धातु का पैना टुकडा या किसी पैनी चीज में लकडी का दस्ता लगा कर उसे हथियार का रूप दे देना। मनुष्य द्वारा बनाये पैदावार के इन साधनों क उदाहरण आज भी अजायब घरों मे देखे जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान से अप्रभावित जगली जातियॉ आजकल भी पैदावार के ऐसे ही साधनों का व्यवहार कर सतुष्ट रहती है। जिस समय पैदावार के साधनों को मनुष्य व्यक्ति गत रूप से बनाता था, इन साधनों पर उसका व्यक्तिगत अधिकार होना ही न्याय था क्योंकि वे साधन उस व्यक्ति के श्रम के फल थे। यह बात न्याय जान पडती है कि अपने श्रम से पदार्थ को बनाने या पैदा करने वाला व्यक्ति ही पदार्थ का स्वामी माना जाय। कुछ बडे साधन जिन्हे परिवार के लोग सम्मिलित रूप से बनाते थे, परिवार भर की सम्पत्ति होते थे, उदाहरणत' खेती के लिये तैयार किया गया जमीन का टुकडा (खेत) परिवार के पालतू पशु या खेती के हथियार। जिस समय व्यक्ति अपने श्रम से तैयार किये हुए पैदावार के साधनों का मालिक होता था उसके श्रम और उसके साधनों से हुई पैदावार को, युद्ध के बिना हथिया लेने का अवसर दूसरों को न था। ऐसे समाज मे दूसरों के श्रम का फल हथिया लेना व्यवस्था और न्याय के विरुद्ध समझा जाता था।

समाज में दास प्रथा जारी हो जाने पर पैदावार के लिये दासों को भी पालतू पशुओं या हथियारों के तौर पर व्यवहार मे लाया जाने लगा। दास अपने मालिक की सम्पत्ति माने जाते थे। मालिक लोग दासों को अपने सुख के लिये या अपनी श्रम करने की शक्ति बढाने के लिये पैदावार के साधन के रूप मे उपयोग करते थे। ऐसी अवस्था मे दासों के श्रम से उत्पन्न पदार्थ या पैदावार के साधन दासों के मालिकों की ही

सम्पत्ति माना जाना न्याय था। इस न्याय का आधार दो धारणाओं पर था प्रथम —दास प्रथा को न्याय मान लिया गया था। दासों की श्रम-शक्ति उनके मालिक की श्रम शक्ति मानी जाती थी। दूसरी धारणा न्याय की पुरानी कसौटी थी कि जो व्यक्ति जिस पदार्थ या साधन को उत्पन्न करता है, वही उसका न्यायपूर्ण स्वामी है। दास प्रथा के इस सामाजिक और आर्थिक न्याय की धारणा के अनुसार दासों द्वारा उत्पन्न पदार्थों और साधनों को दास स्वामियों की सम्पत्ति मान कर भी इस सत्य की उपेक्षा नहीं जा सकती कि दास स्वामियों का धन-सम्पति और साधन दासों के श्रम का फल होता था, दास स्वामियों के श्रम का नहीं। उस समाज मे सामूहिक रूप से श्रम करके पैदा की गई सम्पत्ति और साधनों पर कुछ एक दास-स्वामियों का स्वामित्व न्याय इस लिये मान लिया जाता था कि उस समाज की शासक श्रेणी की सत्य-अहिंसा की धारणा के अनुसार दास प्रथा न्याय मान ली गई थी। दास स्वामियों के स्वार्थ के दृष्टिकोण ने एक हिंसा और अन्याय को न्याय और अहिंसा की मान्यता दे दी थी। दास श्रम तो बहुत करता था परन्तु अपने श्रम के फल का बहुत थोड़ा सा अंश ही निजी उपयोग मे ला सकता था। इसलिये दास स्वामी दासों के श्रम के संचित फल से धनवान और साधनवान बनते जाते थे। उस व्यवस्था का मूल तत्व था, मालिक का दास के श्रम को अपने उपयोग के लिये व्यवहार कर सकना।

आज का सभ्य प्रजातन्त्रवादी पूंजीवादी समाज दास प्रथा को सब से बड़ा अन्याय घोषित करता है परन्तु समाज मे पदार्थों और साधनों को उत्पन्न करने और इस सामाजिक पैदावार के स्वामित्व की व्यवस्था दास प्रथा के समय मान लिये गये आर्थिक न्याय के अनुसार ही चल रही है। आज हमारे समाज मे दासों का स्थान भूमिहीन किसानों और साधनहीन मजदूरों ने ले लिया है। साधनहीन श्रेणी के लोग साधनवानों के आजन्म दास नही होते परन्तु साधनवान लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार साधनहीनों के श्रम का उपयोग पूंजीवादी व्यवस्था मे भी कर सकते हैं। साधनहीन लोग अपने निर्वाह के लिये भूमि के बिना अन्न नहीं उत्पन्न कर सकते, करघे और मिल के बिना कपड़ा नहीं बुन सकते पशु या गाड़ी के अभाव मे बोझ नही ढो सकते। साधनहीनों को सदा दूसरे के लिये ही श्रम करके पेट भरना पडता है। अपना निर्वाह करने के लिये साधनहीन लोगों के पास अपनी श्रम शक्ति को बेचना ही

एक मात्र उपाय है। जिस समय साधनहीन पेट भरने के लिये अपनी श्रम-शक्ति बेचने बाजार में या भूमि के मालिक के पास जाता है, वह मजदूर बन जाता है। साधनवान भूपति, पूंजीपति या उद्योगपति अपनी आवश्यकता के अनुसार दस, पचास, सौ या हजार ऐसे मजदूरों का श्रम, जो अपना श्रम बेचने के लिये मजबूर हैं, आवश्यक समय के लिये खरीद लेता है और अपने पैदावार के साधनों द्वारा उनसे श्रम करवाता है। इस ढंग से समाज के लिये आवश्यक पदार्थ बहुत बड़े परिमाण मे और पैदावार के बहुत बडे-बडे साधन भी बनाये जाते हैं। इस प्रकार सैकड़ों हजारों मजदूरों के सामूहिक श्रम से पैदा किये गये साधन और पदार्थ साधनों के स्वामियों की सम्पत्ति माने जाते हैं, मजदूरों की नहीं। यह ठीक है कि मजदूरों के जिस श्रम से पदार्थ और साधन उत्पन्न होते हैं वह साधनवानों द्वारा खरीदा हुआ या किराये पर लिया हुआ होता है परन्तु इस वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वह श्रम साधनहीन मजदूरों के शरीरों का ही श्रम होता है जो अपनी साधनहीनता से विवश हो अपना श्रम बेच देते हैं।

साधनों के स्वामी मजदूरों के निर्वाह के लिये उन्हे उन के ही श्रम का केवल उतना ही भाग देना आवश्यक समझते हैं जिससे कि मजदूर आवश्यक समय तक श्रम करने योग्य अवस्था मे जीवित रह सके। मजदूरों का सुविधा से अथवा भरपेट अवस्था में रह सकना भी साधारणतया साधनों के मालिकों की दृष्टि मे आवश्यक नहीं होता। जब पशुओं का दाम अधिक हो मालिक अपने पशु से काम लेते समय या उसे खाना देते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखता है कि पशु बहुत देर तक स्वस्थ बना रहे। जब पशु सस्ते दाम मिलते हैं प्राय ही एक पशु से अधिक से अधिक काम लें, उसके बैठ जाने पर दूसरा पशु ले लिया जाता है। साधनहीन मजदूर श्रेणी के प्रति पूंजीपति श्रेणी का यही व्यवहार होता है। मालिक श्रेणी अपने मुनाफे के लिये मजदूरों का अधिक से अधिक शोषण करना चाहती है। ऐसी अवस्था मे मजदूर श्रेणी आत्मरक्षा के लिये संगठित होकर प्रयत्न करती है। मालिक श्रेणी और मजदूर श्रेणी के स्वार्थों का यह विरोध श्रेणी संघर्ष का रूप ले लेता है जो पूंजीवादी प्रणाली का अनिवार्य परिणाम है।

पूंजीवादी व्यवस्था मे मजदूर कितनी मजदूरी या अपने श्रम का कितना भाग पा सकते हैं, यह कई बातों पर निर्भर रहता है। यदि

मजदूरों की संख्या कम हो और मालिकों को अधिक लाभ की आशा हो अथवा मजदूर संगठित हों तो वह कुछ अधिक पा सकते हैं। साधारणत पूंजीवादी व्यवस्था में, साधनहीनों की संख्या बढ़ती जाने और पूंजीपतियों की संख्या कम होती जाने के कारण मजदूरों मे जीविका निर्वाह के लिये अवसर पाने की होड़ बढ़ती जाती है। छोटे पूंजीपतियों के मिटते जाने से और बड़े पूंजीपतियों की संख्या कम होती जाने के कारण उन मे मजदूरों के लिये होड़ घटती जाती है। मजदूर पौन-पेट या आधे पेट खाकर भी काम करने के लिये मजबूर हो जाते हैं। असंतुष्ट अवस्था मे काम करने वाले मजदूरों के काम के अयोग्य हो जाने पर मालिक यथेष्ट संख्या में श्रम के योग्य नये मजदूर पा सकते हैं। मजदूर के रूप में साधनहीन श्रेणी अपने श्रम से पैदावार के बहुत बड़े बड़े साधन, बड़ी-बडी मिलें, रेलें, नहरें, बड़े-बड़े फार्म आदि बना कर साधनवान श्रेणी को सौंपते जाते हैं और स्वयं साधनहीन ही बने रहते हैं। दास प्रथा का ही आर्थिक न्याय पूंजीवादी समाज मे मान्य है। अन्तर केवल इतना है कि साधनहीन श्रेणी के लोग आजन्म क्रीत दास न रह कर समय-समय पर पगार-दास बन जाते हैं। मालिक श्रेणी को जिस समय इन दासों की आवश्यकता नही होती, वह इनका भरण-पोषण करने के उत्तरदायित्व से मुक्त रहती है। पैदावार के साधनों पर पूंजीपतियों के स्वामित्व का परिणाम यही होता है कि साधनहीनों के श्रम से उत्पन्न साधन साधनवानों की सम्पत्ति बन जाते हैं और इस नाते साधनवानों के लिये पैदावार का अधिकांश हथियाने का अवसर और अधिकार बढ़ता जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था के अनुसार यही सत्य-अहिंसा और न्याय है परन्तु पदार्थों के स्वामित्व के न्याय की मौलिक कसौटी के अनुसार इसे न्याय नही माना जा सकता। हम पदार्थों के स्वामित्व के सम्बन्ध मे यह मौलिक कसौटी स्वीकार कर चुके हैं कि अपने श्रम से पदार्थ को उत्पन्न करने वाला व्यक्ति ही उसका स्वामी माना जाना चाहिये। इस मौलिक कसौटी के अनुसार पूंजीवादी समाज की साधनवान श्रेणी को समाज के साधनों का न्यायानुमोदित स्वामी नही माना जा सकता।

आज दिन हमारे समाज मे व्यक्ति अकेले-अकेले पैदावार नही करते। पैदावार के बड़े-बडे साधनों को कोई अकेला व्यक्ति नही बना सकता न समाज के लिये उपयोगी पदार्थ ही व्यक्तिगत रूप से पैदा किये

जाते है। आज समाज मे प्राय सभी पदार्थों और साधनों की पैदावार सामूहिक और सामाजिक ढ ग से होती है परन्तु पैदावार और साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार चला जा रहा है। यह हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था मे बड़ा भारी अन्तर-विरोध है। पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो जाने से समाज के बड़े भारी अश के लिये पैदावार के साधनों को उपयोग कर सकने का अवसर नही रहता। साधनों का उपयोग समाज के सामूहिक कल्याण के लिये नही बल्कि मालिकों के व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये होता है। समाज का मुख्य अग साधनहीन श्रेणी जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करने के पश्चात इन पदार्थों को अपने उपयोग में लाने का अवसर भी नही पा सकती। पैदावार के साधनों पर मालिकों का व्यक्तिगत स्वामित्व होने के कारण पैदावार का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नही बल्कि मालिक व्यक्तियों के लिये मुनाफा कमाना हो जाता है। मालिकों का यह मुनाफा साधनहीन श्रेणी द्वारा उत्पन्न किया वही धन होता है जिसे कि साधनहीन श्रेणी अपनी विवशता के कारण खो बैठती है। इस सम्पूर्ण व्यवस्था के परिणाम स्वरूप साधनहीन श्रेणी उत्तरोत्तर जीवन के अवसर से वचित होती जाती है। समाज का प्रति हजार नौसौ निन्यानबे अश साधनहीन श्रेणी है। मालिक श्रेणी का मुनाफा इसी श्रेणी द्वारा पदार्थों की खपत से होता है। इस श्रेणी के निरन्तर निचुड़ते जाने से इनकी खपत करने की शक्ति क्षीण होती जाती है और मालिक श्रेणी के लिये मुनाफे का अवसर भी नही रहता। ऐसी अवस्था को ही पूंजीवादी समाज का आर्थिक संकट कहा जाता है जब पूंजीपति श्रेणी के उद्योग-धन्दे डूबकर दिवाले निकलने लगते हैं। इस आर्थिक सकट का कारण भी पूंजीपति श्रेणी की मुनाफा कमाने की लालसा ही होती है जो सामाजिक अन्तरविरोध के कारण समाज के सकट का कारण बनती है।

साधनहीन श्रेणी की जीवन के लिये अवसर प्राप्त करने की चेष्टा, जीविका क लिये अवसर, उचित मजदूरी और पैदावार के साधनों के सामाजीकरण की मॉगों के रूप मे उठती । गाधीवाद साधनहीन श्रेणी के संगठित रूप से जीविका के लिये अवसर, उचित मजदूरी और पैदावार के साधनों के सामाजीकरण की मॉगों को संसार के अनुचित लोभ से उत्पन्न मालिक श्रेणी के प्रति हिसा और द्वेष की

वृति बताता है। आत्मरक्षा के लिये साधनहीनों के इस प्रयत्न को गाधीवाद सामाजिक अशाति का कारण बताता है परन्तु सामाजिक विषमता और अशाति के मूल कारण व्यक्ति के श्रम का फल उससे छिन जाने को और समाज के अधिकाश व्यक्तियों को अन्याय का शिकार होते देख कर भी उसका विरोध नही करता बल्कि उस निरन्तर हिंसा की मान्यता बनाये रखने के लिये साधनहीन श्रेणी को स्वेच्छा से अन्याय का शिकार होते रहने की शिक्षा देता है।

गाधीवाद का दावा है कि वह साधनहीन और साधनवान दोनों ही श्रेणियों को, अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार त्याग का उपदेश देता है। साधनवानों को गाधीवाद भोग-विलास में न फसने और दरिद्रों की सहायता करने का उपदेश अवश्य देता है। इस उपदेश का प्रयोजन वास्तव मे साधनवान श्रेणी की अधिकार पूर्ण स्थिति की रक्षा करना ही है। इस उपदेश का प्रयोजन साधनहीन दरिद्रों को उनकी दयनीय स्थिति मे सांत्वना देकर चुप रखना है और साधनवानों को इस बात के लिये सतर्क रखना है कि वह दरिद्रों को अपनी दया से प्रभावित कर उन्हे अपना अनुगत बनाये रक्खें। गाधीवाद साधनवानों को यह उपदेश तो अवश्य देता है कि वह अपने आप को समाज के धन और पैदावार के साधनों का संरक्षक मान कर अपनी सम्पत्ति का प्रयोग इस प्रकार करें कि साधनहीन श्रेणी आत्मरक्षा के लिये विद्रोह करना आवश्यक न समझ बैठे। गाधीवाद साधनवान श्रेणी को यह उपदेश और परामर्श कभी नही देता कि समाज के पैदावार के साधन वास्तव मे समाज के सामूहिक श्रम का परिणाम हैं इसलिये इन साधनों पर मालिकों का व्यक्तिगत अधिकार और इन साधनों का मालिकों के व्यक्तिगत मुनाफे के लिये प्रयोग मे लाया जाना अन्याय है क्योंकि मालिकों के क्रमागत हिंसापूर्ण अधिकार की रक्षा करना ही गाधीवाद और परम्परागत आध्यात्मवाद का सामाजिक और आर्थिक प्रयोजन है।

वर्तमान पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली का मुख्य लक्षण पैदावार को मशीनों के उपयोग से सामूहिक ढंग पर करना और पैदावार पर व्यक्तिगत स्वामित्व मान लेना है। इस प्रणाली का उद्देश्य पूंजीपति को मुनाफा कमाने का अधिक से अधिक अवसर देना है। इसका परिणाम श्रम करने वाली साधनहीन श्रेणी का शोषण है। इस प्रणाली का दूसरा परिणाम पूंजीवादी श्रेणी और साधनहीन श्रेणी के स्वार्थों में

निरंतर विरोध बढ़ते जाना भी है। मैशीन समाज की पैदावार की शक्ति को बढ़ाती है। समाज का नेतृत्व और शासन पूंजीपति श्रेणी के हाथ में होने से पूंजीपति श्रेणी ही मशीनों द्वारा बढ़ी हुई पैदावार की शक्ति का भी नियन्त्रण करती है। मशीनों द्वारा समाज के विकास की गति बढ़ जाने पर एक ओर पूंजीपतियों के मुनाफे का परिमाण बढ़ता है दूसरी ओर समाज के शोषण की गति बढ़ने से साधनहीन श्रेणी की संख्या भी तेजी से बढ़ती है। मशीनों द्वारा पैदावार का ढंग सामूहिक होने के कारण साधनहीन श्रेणी मे सामूहिक चेतना उत्पन्न होने से संगठन और श्रेणी भावना भी पैदा होती है और उनके आत्मरक्षा के प्रयत्न सामूहिक और श्रेणी का रूप ले लेते हैं।

साधनहीन श्रेणी की सामूहिक चेतना और उनका श्रेणी संगठन ही इस श्रेणी की आत्मरक्षा का उपाय है। पूंजीवादी प्रणाली साधनहीन श्रेणी के लिये जीवन की अवस्था को असह्य और असम्भव बना चुकी है इसलिये साधनहीन श्रेणी आत्मरक्षा के लिये इस व्यवस्था को बदल कर ऐसी व्यवस्था लाने का यत्न कर रही है जिसमे समाज की आर्थिक व्यवस्था का अन्तर विरोध न रहे, समाज एक श्रेणी के स्वार्थ पर बलिदान न होकर विकास और तुष्टि के मार्ग पर चल सके। समाज का ऐसा कल्याण पूंजीपति श्रेणी से शोषण और मुनाफा कमाने का अधिकार छीन लिया जाने पर ही यह कार्य साधनहीन श्रेणी के नेतृत्व में श्रेणी संघर्ष द्वारा ही सम्भव है। इसलिये गांधीवाद, मालिक श्रेणी के हित को नैतिकता की नींव मान कर, श्रेणी संघर्ष का विरोध करता है और साधनहीन श्रेणी की संख्या बढ़ाने और उन्हें संगठन का अवसर देने वाली परिस्थिति मशीनों के उपयोग का ही विरोध करता है। वह मशीनों के प्रयोग को चण्डाल सभ्यता कहता है। वह समाज के कल्याण का मार्ग मशीनों के प्रयोग से पैदावार को खूब बढ़ाने का प्रयत्न छोड़ कर हाथ की दस्तकारी और घरेलू धन्दों की ओर लौट जाना बताता है। वह श्रेणी संघर्ष को श्रेणी मैत्री का रूप दे देने का उपदेश देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि उसके यह उपदेश समाज के गत अनुभवों और भावी विकास के विरुद्ध हैं।

मशीन की चण्डाल सभ्यता

यदि गांधी जी के उपदेशों को ही गांधीवाद का स्रोत और आधार माना जाय तो भारत की सभी राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक और नैतिक समस्याओं का मूल पश्चिम की चण्डाल सभ्यता के प्रभाव में है। गांधीवाद के अनुसार पश्चिम की चण्डाल सभ्यता का अर्थ समाज के लिये आवश्यक पदार्थों को मशीनों से पैदा करने के ढंग मे है। गांधीवाद का दावा है कि यदि भारत मशीनों का बहिष्कार करके मशीनों के उपयोग से समाज के जीवन मे आ जाने वाले परिवर्तनों से बच जाय तो देश की सभी समस्यायें अपने आप हल हो जायंगी। गांधीवाद का विचार है कि मशीनों का उपयोग आरम्भ होने से पहले इस देश में जैसी अवस्था थी वह शाश्वत सत्य-अहिंसा और पूर्ण न्याय की अवस्था थी। गांधीवाद सामन्ती युग के उसी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आदर्शों और व्यवहारों को आज भी भारत के लिये आदर्श मानता है।

पैदावार के लिये मशीनों का व्यवहार करने वाले समाज की सभ्यता के विषय मे गांधी जी के शब्दों मे ही गांधीवाद का दृष्टिकोण समझ लेना अधिक उपयोगी होगा। गांधी जी कहते हैं—"कल-कारखानों ने यूरोप को उजाड़ना शुरू कर दिया है और अब उन की हवा हिन्दुस्तान मे भी पहुँच गयी है। कलें आधुनिक सभ्यता की खास निशानी हैं और मैं तो साफ देख रहा हूं कि वे महापाप हैं। ' बम्बई की मिलों मे काम करने वाले मजदूर पूरे गुलाम बन गये हैं। वहाँ काम करने वाली स्त्रियों की दशा देख कर तो हर आदमी का कलेजा कांप उठेगा। जब मिलों की बाढ़ नहीं आयी थी तब यह स्त्रियां कुछ

भूखों नहीं मरती थीं। कलों की हवा ज़ोर से बही तो हिन्दुस्तान की दशा बहुत दयनीय हो जायगी। हिन्दुस्तान में मिलें खड़ी करने से यह अधिक अच्छा होगा कि आज भी हम मानचेस्टर को पैसा दें और उसका रद्दी सड़ी माल इस्तेमाल करें। उनका कपड़ा इस्तेमाल करने से केवल हमारा पैसा ही जायगा और हिन्दुस्तान में मानचेस्टर बना देने से हमारा पैसा तो हिन्दुस्तान में रहेगा, पर वह पैसा हमारा खून लेगा, क्योंकि वह हमारे चरित्र का नाश करेगा। जो लोग इन कारखानों की बदौलत मालामाल हो गये हैं वे नीति की दृष्टि से दूसरे पैसे वालों से अच्छे हैं, इसकी कोई सम्भावना नहीं। यह मानना नासमझी ही होगी कि अमरीका के राकफेलर से हिन्दुस्तान का राकफेलर अच्छा होगा। गरीब हिन्दुस्तान आज़ाद हो सकता है पर अनीति की कमाई से धनी होने वाले हिन्दुस्तान का छुटकारा नहीं हो सकेगा।"*

गांधी जी के उपरोक्त उद्धरण के अतिरिक्त गांधी जी का यह भी कहना है कि संसार के अन्य देशों की भाँति सामन्तवादी युग में इस देश में मशीनों का न होना विज्ञान के विकास की पूर्व अवस्था नहीं थी बल्कि भारत के लिये राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक और नैतिक आदर्श निश्चित करने वाले लोगों की बुद्धिमानी ही थी। गांधी जी का कहना है — यही देख कर हमारे बुज़ुर्गों ने हमें भोग की वासना से मुक्त करने की कोशिश की। हज़ारों साल पहिले जिस हल से हम ने काम लिया उसी से आज तक काम चलाते रहे। हज़ारों बरस पहिले जैसे झोंपड़ों में हमने गुज़र किया वैसे ही झोंपड़े अब तक बनाते रहे। सत्यानाशी प्रतियोगिता को हमने अपने पास फटकने नहीं दिया
हमें नये-नये कल पुर्जे बनाना न आता हो सो बात नहीं थी पर हमारे पुर्खों ने देखा कि मनुष्य यन्त्रों के जाल में फंसा तो उन का गुलाम ही बन जायेगा इसलिये उन्हों ने सोच-विचार कर कहा कि तुम्हारे हाथ पांव से जितना हो सके उतना करो। हाथ पैर से काम लेने में ही सच्चा सुख और स्वास्थ्य है।

"उन्होंने यह भी सोचा कि बड़े-बड़े शहर बसाना बेकार का झंझट है। उन में रह कर सुखी न हो सकेंगे। वहाँ तो चोर डाकुओं के दल जुटेंगे, पैसे वाले गरीबों को चूसेंगे। 'सफेद गलियां' आबाद होंगी' ×

* हिन्द स्वराज्य पृष्ठ १०१

× हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ६१ और ६२।

गाधीजी कलों की सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव को दिखा कर भारतीय जनता को समझाना चाहते हैं—"भारतीय सभ्यता का झुकाव नीति दृढ करने की ओर है। पश्चिम की सभ्यता का अनीति को दृढ करने की ओर। पश्चिम की सभ्यता नास्तिक, अनीश्वरवादी है। भारत की सभ्यता ईश्वर को मनाने वाली है। हिन्दुस्तान का हित चाहने वालों को चाहिये कि इस तत्व को समझ कर इसमे श्रद्धा रख कर जसे बच्चा माँ की छाती से चिपका रहता है वैसे ही अपनी पुरानी सभ्यता से चिपके रहे।" गांधी जी ने भारतीय जनता को बार-बार समझाने की चेष्टा की है "भारत को किसी से कुछ सीखना नहीं।" इसके विपरीत वे पश्चिम को भारतीय आध्यात्मिक सभ्यता के सुझावों से अपनी समस्यायें हल करने का उपदेश देते है।

गाधी जी ने जिस अहकार से भारत के सामंतवादी युग की सभ्यता की श्रेष्ठता का दावा किया है और जनवाद की ओर बढ़ती हुई पश्चिम से आई कलों की सभ्यता को "वेश्या और बाझ" कह कर गालियाँ दी हैं, वह गांधीवादी सहनशीलता, प्रेम और उदारता का अच्छा खासा उदारहण है।* गांधीजी ने सामन्तकालीन सभ्यता को भारतीय सभ्यता का नाम देकर उसका समर्थन किया है। यह सभ्यता भारत की ही विशेषता नही समझी जा सकती। औद्योगिक युग से पहिले पूर्व और पश्चिम के सभी देशों में वैसी ही सामन्तशाही सभ्यता, संस्कृति और न्याय की धारणा का चलन था। वास्तव में गांधी जी को कलों की सभ्यता के पश्चमीय होने से उतनी आपत्ति नही है जितनी की उसके आर्थिक और सामाजिक प्रभावों के कारण है। गाधी जी के विचारों और उन विचारों की पृष्ठभूमि के सम्पर्क का अध्ययन करने वाले यह भली प्रकार जानते हैं कि गाधी जी के विचारों पर भारतीय विचारकों का उतना प्रभाव नहीं रहा जितना कि पश्चिम के विचारकों टालसटाय, थोरे, एमर्सन आदि का पड़ा है। यह विचारक औद्योगिक परिवर्तन-काल से अपने देशों मे आने वाली आर्थिक और सामाजिक विषमताओं से खिन्न थे परन्तु मार्क्स और एंगिल्स की भाति औद्योगिक विकास के भविष्य को और इन विषमताओं के कारण अनिवार्य रूप से

---

* गाधी जी ने इग्लैंड की पार्लमेंट पर विचार प्रकट करते हुए इसे बाझ और वेश्या कहा है। हिन्द स्वराज्य पृ० २३।

उत्पन्न होने वाले श्रेणी संघर्ष के भावी परिणामों से बेखबर थे। गांधी जी ने उन्हीं प्रतिक्रियावादी विचारकों से प्रभावित हो कर सामन्तवादी दृष्टिकोण से और सामन्तवादी संस्कृति में ही समाज का कल्याण समझा। सामन्तवादी संस्कृति के मोह ने और मनुष्य समाज के इतिहास के भौतिक आधार की उपेक्षा ने गांधी जी की विचारधारा को प्रतिक्रियावादी और ह्रासोन्मुखी बना दिया। उन्हें समाज के विकास के साधनों में ही समाज का विनाश दिखाई देने लगा।

मशीनों की सभ्यता के सम्बन्ध में गांधी जी के उद्‌गारों से जान पड़ता है कि वे कलों की सभ्यता का विरोध साधनहीनों या 'दरिद्र भगवान' के प्रति करुणा से, उन्हें शोषण और अन्याय से बचाने के लिये करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि कलों के विकास ने सर्वसाधारण के जीवन को दास प्रथा के युग और सामन्तकाल की अपेक्षा सुधारा है या गिराया है? कलों के विकास ने सर्वसाधारण और साधनहीन जनता की दासता और विवशता को कम किया है या बढ़ाया है? उन्हें मानुषिक व्यवहार की कसौटी पर साधनवान जनता का सामना कर सकने का साहस और अवसर दिया है या साधनहीन श्रेणी में अधिकार और समता की अनुभूति को कम किया है? इस विषय में गांधीवाद के फैसले की अपेक्षा इतिहास की गवाही ही अधिक भरोसे योग्य होगी।

पूंजीवादी समाज में पैदावार कल-कारखानों द्वारा सामूहिक और सामाजिक रूप में होती है परन्तु इस पैदावार पर साधनवानों का व्यक्तिगत अधिकार हो जाता है। यही शोषण का रूप और कारण है। यह कैसे कहा जा सकता है कि कलों के व्यवहार से पूर्व, सामंतकालीन युग में या उससे भी पूर्व दास प्रथा के युग में साधनहीन जनता का शोषण नहीं होता था? उस युग में बड़े-बड़े साधनवान अपने शारीरिक सुख के लिये सैकड़ों दासों का उपयोग सवारी के लिये और घरेलु काम-धन्धों में निर्दयता से पशुओं की तरह करते थे। मालिकों के लिये आवश्यक वस्तुओं की पैदावार के लिये दासों और रैयत (Serfs) का प्रयोग निरंकुशता से किया जाता था। कलों के विकास से पूर्व दास प्रथा के समय साधनहीन मनुष्य न केवल पशुओं की तरह विवश थे बल्कि उन के साथ व्यवहार भी पशुओं जैसा ही किया जाता था। दासों और सेवकों के कंधों पर सवारी करना, मालिकों के विश्राम के लिये सेवकों का रात-रात भर पंखे झुलाना, मालिकों की जलक्रीडा के

लिये सैकड़ों दासों का मीलों से जल ढो-ढो कर लाना, मालिकों का सैकड़ों स्त्रियों को भोग और विनोद की वस्तु बना कर महलों मे बन्द कर लेना ऐसी बातें हैं जिन्हे पूँजीवादी समाज नही सह सकता परन्तु सामन्तवादी समाज में मालिकों के यह सब अधिकार न्याय, अहिंसा, संस्कृति और कुलीनता के लक्षण समझे जाते थे। हमारे अपने देश मे जमीन्दारों द्वारा भूमिहीन किसानों से 'तिभागे' और 'आधे' पर खेती कराने की न्याय मानी जाने वाली और मालिकों की रैयत से बेगार लेने की प्रथायें, गरीब जनता से साहूकारों द्वारा प्रति रुपये पर प्रति मास दो आना चार आना सूद उगाह लेने की करतूतें कलों के विकास से पूर्व आज की अपेक्षा कहीं अधिक विकट रूप में मौजूद थीं। उस समय साधनहीनों का ऐसे शोषण का विरोध करना अनैतिकता और अन्याय माना जाता था।

यदि सर्व-साधारण जनता के सौ वर्ष पहले के और आज के जीवन में तुलना करें तो मानना पड़ेगा कि कलों के विकास ने समाज की पैदावार की शक्ति को सैकड़ों गुणा बढ़ा कर अनेक आवश्यक पदार्थ, सुविधायें सर्वसाधारण के लिये भी सुलभ बना दी हैं। कलों द्वारा चलने वाले यातायात के साधनों रेल, तार, जहाज आदि के पूर्व कोई राजा, सामंत या धन्ना सेठ ही किसी दूर देश मे रहने वाले अपने सम्बन्धियों या मित्रों से पत्र-व्यवहार के लिये प्यादों या सांडनी-सवारों को दौड़ा सकता था। आज कलों और वैज्ञानिक साधनों के विकास से बहुत दूर तक संदेश भेज सकने की सुविधा सर्वसाधारण के लिये भी है। जिस समय कपड़ा केवल हाथ से बनाया जाता था, वह सर्वसाधारण और साधनहीनों के लिये दुर्लभ था। पुराने इतिहासकारों के अनुसार रानियों के लिये एक एक महीन और बढ़िया वस्त्र बनाने के काम मे सौ-दो-सौ व्यक्ति साल-छः महीने लगे रहते थे। जो व्यक्ति साल-छः महीने तक सौ-दो-सौ व्यक्तियों के निर्वाह का खर्च नही दे सकता था, महीन और बढ़िया वस्त्र पहिनने की इच्छा नही कर सकता था। इस का प्रत्यक्ष उदाहरण हमने गांधी जी द्वारा चलाये खद्दर आन्दोलन के दिनों में भी देखा है। उन दिनों कलों से बनी मामूली मलमल की धोती ढाई तीन रुपये में मिल सकती थी परन्तु शुद्ध खद्दर की वैसी महीन धोती पचास साठ से कम में नहीं मिल सकती थी। ऐसे कपड़े पहिनने का सुख पंडित नेहरू की बहनें, राजकुमारी अमृतकौर अथवा सारा भाई

और विड़ला परिवार की महिलाओं के ही अधिकार की बात थी। शेष खद्दर भक्तों को मोटे कुर्ता-धोती का एक जोड़ा स्वयं धो-धोकर निवाह करना पड़ता था। कलों से कपडा बनाया जाने से पूर्व कपड़े का उचित मात्रा मे व्यवहार केवल राजा, सामन्त और बहुत वडे-वड़े सेठ ही कर सकते थे। सर्व-साधारण जनता हाथ भर वस्त्र कमर मे लपेट कर ही निर्वाह करती थी। इसके यथेष्ठ प्रमाण हमे प्राचीन भारत क, तत्कालीन मचित चित्रा और अन्य ऐतिहासिक साक्षियों से मिल सकते हैं। यही बात सवारियों तथा औषधियों के बारे मे भी थी। स्वास्थ्यरक्षा और सफाई के लिये मध्यम श्रेणी क लोग जितना जल आज नगरों मे व्यवहार में लाते है, जल-कल के विकास से पूर्व उतना जल वही सामत और सेठ उपयोग मे ला सकते थे जो केवल जल ढोने के लिये आठ-दस सेवक रख सकते हों। कलों के विकास ने मनुष्य क श्रम करन की शक्ति को सैकड़ों गुणा वढ़ा कर पदार्थों और सुविधाओं का सुलभ वना दिया है और उससे समाज के सर्व-साधारण लोगों का कल्याण ही हुआ है

यह निर्विवाद सत्य है कि कलों के विकास ने मनुष्य की श्रम शक्ति को वीसियों गुना वढ़ा दिया है और वह अभी हजारों गुना वढ़ सकती है। कल से एक व्यक्ति वीस पच्चीस व्यक्तियों के सामर्थ से हो सकने वाला काम करने लगता है। यह गाधीवाद का समाज का दुर्भाग्य जान पड़ता है। यह तर्क किया जाता है कि जब एक व्यक्ति पच्चीस व्यक्तियों का श्रम कर सकेगा तो चौवीस व्यक्तियों क बेकार होकर जीविकाहीन हो जाने की आशका हो जायगी। ऐसा तर्क करने वाले दो बातें भुला देते हैं। पहली बात :—हमारे समाज में उपयोगी पदार्थ जिस मात्रा या सख्या मे तैयार होते हैं, उससे सभी लोग उन पदार्थों को उचित या यथेष्ट मात्रा मे नही पा सकते। सर्व-साधारण के लिये यह पदार्थ सुलभ हो सकने के लिये इनका अधिक मात्रा में उत्पन्न किय जा कर खूब सस्ता होना आवश्यक है। कलें मनुष्य की श्रम-शक्ति को वढ़ाने क साथ-साथ मनुष्य के प्रयोग में आने वाले नये-नये पदार्थों की सख्या को भी वढ़ा देती हैं। इन पदार्थों की पैदावार के लिये सदा ही श्रम करने वाले लोगों की आवश्यकता वढ़ती जाती है। आज हम अपने समाज मे ऐसे सैकड़ों पदार्थों का प्रयोग होता देखते हैं जिन्हे चालीस-पचास वर्ष पूर्व कोई नही जानता था। मशीनों का अधिक विकास होने पर ऐसे सकड़ों और पदार्थ भी बन सकेंगे।

दूसरी बात यह कि कलों द्वारा मनुष्य की उत्पादक शक्ति बढ़ने का यह अनिवार्य परिणाम नहीं है कि बहुत व्यक्तियों से हो सकने योग्य श्रम थोड़े व्यक्तियों से कराकर शेष को बेकार कर दिया जाय। यह ठीक है कि पूंजीवादी व्यवस्था में समय-समय पर कलों के विकास से पैदावार अधिक बढ़ने पर साधनहीन जनता को बेकारी का सामना करना पड़ता है। कलों के इस परिणाम की जिम्मेवारी मशीनों पर नहीं बल्कि मशीनों को अपने नियंत्रण में रख कर, मशीनों से केवल अपने मुनाफे के लिये पैदावार कराने वाली श्रेणी की नीति पर है। मशीनों से पैदावार बढ़ जाने के कारण बेकारी होने का यह अर्थ नहीं समझा जा सकता कि मशीन ने इतना अधिक पैदा कर दिया है कि समाज की आवश्यकता पूरी हो कर पदार्थ फालतू पड़े हैं इसलिये मजदूर निठल्ले हो गये हैं। इसका अर्थ केवल यह होता है कि इन कलों से पैदावार बढ़ जाने के कारण मालिक श्रेणी अपने सौदे का दाम घटाने के लिये मजबूर हो रही है जो कि वह नहीं चाहती।

पूंजीपति श्रेणी अपने सौदे का दाम बढ़ाने के लिये पैदावार को रोक कर मजदूरों को बेकार कर देती है या अपने मुनाफे का दर कम न होने देने के लिये समाज के श्रम द्वारा की गई पैदावार को सर्व-साधारण जनता के भूखे-नंगे रहने पर भी नष्ट कर देती है। उदाहरणतः—अमरीका में जहां पूंजीवादी प्रणाली का सब से अधिक विकास हुआ है और पैदावार का प्रयोजन मालिकों का व्यक्तिगत मुनाफा ही माना जाता है—करोड़ों मन गल्ला, आर्थिक संकट आने पर भट्ठियों में जला दिया जाता है या भूसे की जगह पशुओं को खिला दिया जाता है। समुद्र से पकड़ी मछलियों को फिर समुद्र में फेंक दिया जाता है। मांस के पशुओं को मार कर नष्ट कर दिया जाता है ताकि सौदे के रूप में इन पदार्थों के दाम गिर जायं। इस व्यवस्था से समाज की पैदावार का बढ़ना पूंजीवादी श्रेणी के लिये आर्थिक संकट बन जाता है। दूसरी ओर समाजवादी सोवियत संघ में पैदावार को बढ़ा कर प्रतिवर्ष उपयोगी पदार्थों के दाम घटाये जाते हैं। मशीनों द्वारा समाज की श्रम-शक्ति बढ़ा कर साधारण किसान मजदूरों के लिये उन पदार्थों और सुविधाओं को भी सुलभ बना दिया गया है जो पूंजीवादी देशों में केवल मालिक श्रेणी को ही प्राप्त हो सकती हैं। इस के अतिरिक्त मजदूरों और किसानों की पगार घटाये बिना उन के श्रम के समय

और बोझ को कम किया जा रहा है। इस अन्तर का कारण यह है कि अमरीका की आर्थिक व्यवस्था पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और व्यक्तिगत मुनाफा कमाने के अधिकार को न्याय मानती है जिसका कि समर्थन गाधीवाद करता है। समाजवादी रूस की आर्थिक व्यवस्था पैदावार के साधनों के सामाजीकरण और सामाजिक हित के विचार से पैदावार करने को न्याय मानती है। इसे गाधीवाद हिंसा कहता है।

समाज में उपयोगी पदार्थों का बढ़ना और समाज का संकट में पड़ जाना परस्पर-विरोधी बातें हैं। यह अतरविरोध पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व को ही न्याय मानने और मालिकों के मुनाफा कमा सकने की स्वतत्रता के कारण होता है क्योंकि सामाजिक रूप से पैदावार करने वाली मशीनों को समाज के सामूहिक हित के लिये नहीं बल्कि मालिकों के व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये ही उपयोग में लाया जाता है। कलों का विकास ऐसी भौतिक परिस्थितियां पैदा कर रहा है जिन के कारण पैदावार के साधनों का सामाजीकरण अनिवार्य जान पड रहा है। यही माग गाधीवादियों को पाप और हिंसा जान पड़ती है इसीलिये गाधीवाद मशीन की सभ्यता को चाण्डाल सभ्यता कहता है।

कलों द्वारा मनुष्य की पैदावार की शक्ति बढ सकने का परिणाम सामाजिक हित की दृष्टि से यह होना चाहिये कि सभी मनुष्यों की भौतिक आवश्यकतायें अधिक-से-अधिक मात्रा में पूर्ण हो सकें और समाज के सभी व्यक्तियों को सुख, सुविधा से बौद्धिक प्रगति के विकास और सतोष का अवसर मिले! सक्षेप में आज सम्पन्न मालिक श्रेणी के व्यक्तियों के लिये जो सुविधायें प्राप्त हैं, वह सभी मनुष्यों के लिये हों। मनुष्यों को आठ और बारह घंटे शरीर को चकनाचूर कर देने वाला परिश्रम क्यों करना पडे? यह सभी लोग जानते हैं कि देहातों में खेत मजदूर सूर्योदय से सूर्यास्त तक श्रम करके भी मिलों और फार्मों में मिलने वाली मजदूरी का चौथाई भी नहीं पाते। उनके श्रम करने का समय सूर्योदय से सूर्यास्त तक होता है। मिलों में मजदूरों के श्रम का समय बारह घंटे से ग्यारह, दस, नौ और अब कानूनन केवल आठ घंटे है। रूस के समाजवादी समाज में वह केवल छः घंटे ही माना जाता है। कलों का चरम विकास ही हमारे समाज में पैदावार को इतना बढ़ा सकता है कि सभी व्यक्तियों को पशुओं की तरह श्रम किये बिना भी अपनी सभी

आवश्यकतायें पूर्ण करने का अवसर हो। यही कम्युनिज्म का सामाजिक आदर्श है। इस आदर्श को प्राप्त करने का साधन कम्युनिज्म कलों के चरम विकास को ही समझता है।

घरेलू उद्योग-धन्धे !

गाधीवाद मशीन की सहायता से बढ़ी हुई समाज की पैदावार की शक्ति को ही सामाजिक विषमता, अन्तरद्वन्द्व और हिंसा अर्थात श्रेणी संघर्ष का मूल कारण मानता है। इस विषमता से मुक्ति का उपाय वह विकसित मशीनों का उपयोग छोड़ कर आवश्यक वस्तुओं की पैदावार हाथ से चलने वाले औज़ारों की सहायता से व्यक्तिगत और घरेलू रूप में करना बताता है। गाधी जी ने चर्खे को घरेलू धन्धों का प्रतीक माना है और उपदेश दिया है कि चर्खा ही ससार मे शान्ति की स्थापना करेगा "Charkha to bring peace to world." * चर्खे और घरेलू-उद्योग धन्धों से ससार मे शान्ति स्थापना की आशा दिलाते हुए वे चर्खे को आध्यात्मिक शस्त्र भी बता गये हैं। गाधीवाद के मूल प्रयोजन के अनुसार चर्खे या घरेलू-उद्योग धन्धों से पैदावार के तरीके को इसलिये आध्यात्मिक शस्त्र माना जा सकता है कि वह आध्यात्मिकता के प्रयोजन—प्राचीन आर्थिक व्यवस्था की रक्षा मे किसी हद तक सहायक हो सकता है अर्थात घरेलू धन्धों का तरीका क्रान्ति की ओर जाती समाज की गति को कुछ शिथिल कर सकता है।

मशीनों और घरेलू उद्योग-धन्धों की उपयोगिता को तुलनात्मक रूप मे जाचते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि समाज ने किसी जोर-जबर से मजबूर होकर घरेलू धन्धों के स्थान मे मशीनों का उपयोग स्वीकार नही किया। मशीन का आरम्भिक रूप मामूली हथियार थे। हथियारों का विकसित रूप ही मशीन है। हथियार का प्रयोजन मनुष्य की श्रम-शक्ति को अधिक फलदायक बनाना ही होता है। मशीन इसी प्रयोजन को बहुत बड़े परिमाण मे पूरा करती है। मनुष्य समाज ने प्रकृति से अपनी आवश्यकतायें पूरी कर सकने के सघर्ष मे मशीनों का विकास किया है। मशीनें मनुष्य समाज का जीवन अधिक अच्छे ढंग से पूरा कर सकने के प्रयत्न की सफलतायें है। मनुष्य और पशु मे यही अन्तर है कि पशु प्रकृति में पाये जाने वाले पदार्थों से और परिस्थितियों में ही निर्वाह करता है मनुष्य अपने लिये आवश्यक

---

* National Herold, Lucknow 27-7-41

पदार्थों को स्वयं उत्पन्न करना है और अपनी परिस्थितियों को अपनी आवश्यकतानुसार बदल सकता है। यही मनुष्य और पशु का भेद है। मनुष्य की मनुष्यता का प्रत्यक्ष रूप मशीन है और वह उसकी मनुष्यता का प्रमाण भी है।

मशीनों का इतिहास इस बात की साक्षी है कि मशीनों के विकास की आरम्भिक अवस्था में समाज में उनका विरोध भी बहुत हुआ था। समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं को दस्तकारी से पैदा करके निर्वाह करने वाली श्रेणी ने मशीनों का विरोध ही किया था परन्तु मशीन के समाज के श्रम की शक्ति बढ़ा देने के गुण के सामने उन्हें झुक जाना पड़ा। इस श्रेणी ने अपने अनुभव से देखा कि मशीन कुछ समय उनके व्यक्तिगत या उनके परिवार के व्यवसाय को चोट पहुँचाने के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज के अंग के रूप में उनकी भलाई ही कर रही है। ऐसे अनुभवों के आधार पर समाज अपने कल्याण के लिये मशीन के उपयोग को उत्तरोत्तर अपनाता गया। इस से समाज के जीवन के ढंग, व्यक्तियों और श्रेणियों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता गया। यह परिवर्तन पैदावार के लिये व्यक्तिगत रूप से श्रम करने के स्थान पर सामूहिक और सम्मिलित रूप से श्रम करना है। मशीनों का अधिक मात्रा में उपयोग अब दूसरे आवश्यक परिवर्तनों की मांग कर रहा है। यह परिवर्तन व्यक्ति और पैदावार के साधनों के सम्बन्ध अर्थात् साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के नियम को हटा कर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने की मांग है। गांधीवाद इस नये परिवर्तन का अस्वीकार करने के लिये ही, इस परिवर्तन को आवश्यक बनाने वाली मशीनों से ही छुट्टी चाहता है। वह स्वामी श्रेणी की प्रभुता का धर्म कायम रखने के लिये पूरे समाज को दरिद्रता की भट्टी में झोंक देना चाहता है। उसका आदर्श है, "करोड़ों को तो गरीब ही रहना है।"

गांधीवाद ने आध्यात्मिकता और अहिंसा का नाम देकर जिन घरेलू धन्धों को पुनः चालू करने का प्रयत्न किया उनका अनुभव इस कार्यक्रम की निस्सारता का अच्छा खासा उदाहरण है। गांधी जी ने खद्दर को स्वराज्य मिलने की शर्त, और दरिद्र नारायण का उपकार करने वाला कार्यक्रम बताकर, जनता से करोड़ों रुपये लेकर इस काम में लगा दिये। बीस वर्ष के प्रयत्न के बाद भी खद्दर को आज भी जनहित का सफल कार्यक्रम नहीं कहा जा सकता। वह अमीरों के लिये देशभक्ति का चोला

और गरीबों के लिये देशभक्ति का जुर्माना बन कर ही रह गया है। हाथ से कपड़ा (खद्दर) या दूसरे पदार्थ बनाने की आधारभूत विशेषता यह है कि मशीन की अपेक्षा बहुत अधिक समय तक परिश्रम करके बहुत कम पदार्थ बनाये जायें। ऐसी अवस्था में खद्दर या घरेलू धन्धे के रूप में तय्यार किये हुए सभी सौदों का मोल मशीन से तय्यार किये हुए सौदों की अपेक्षा बहुत अधिक होगा। गांधीवादी कांग्रेसी सरकार के खद्दर को पनपाने के सब यत्नों के बावजूद करघे का कपड़ा महंगा और अनाकर्षक होने के कारण बाजार में चल नहीं सकता। यह धन्धा समाप्त हो हो रहा है, और सरकारी सहायता के बिना नहीं बच सकता यह अखिल भारतीय करघा संघ के प्रधान ने स्वयं स्वीकार किया है।* जिन गरीबों की सहायता करने या जिन्हें शोषण से बचाने के लिये घरेलू उद्योग-धन्धों का प्रचार किया जाता है वे लोग ऐसे सौदे के ग्राहक नहीं बन सकते। घरेलू धन्धे या खद्दर केवल अमीर श्रेणी का चोंचला या गरीब जनता पर उनकी कृपा ही है।

मशीन की तुलना में घरेलू उद्योग-धन्धों की उत्पादक शक्ति इतनी कम है कि वह मशीनों द्वारा होने वाले साधनहीन श्रेणी के शोषण का बाल भी बांका नहीं कर सकते। गांधी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि खद्दर या घरेलू धन्धों का उद्देश्य मिलों का मुकाबिला करना नहीं है। इसके साथ ही उन्होंने मिल मालिकों के हित की चिन्ता से यह भी उपदेश दे दिया है कि खादी और मिलों में स्पर्धा न होने देना चाहिये।+ खद्दर और ग्रामोद्योग धन्धे यदि पूंजीपति श्रेणी के शोषण के अधिकारों पर चोट कर सकते तो इस कार्यक्रम के प्रचार के लिये गांधी जी और गांधी आश्रमों को पूंजीपतियों से करोड़ों रुपया दान न मिलता। पूंजीपतियों के शोषण से बचने के लिये साधनहीन जनता घरेलू उद्योग-धन्धों की शरण नहीं ले सकती क्योंकि मिलों और कल-कारखानों की तुलना में घरेलू धन्धों की कमाई इतनी कम होती है कि मिल मजदूरों के श्रम का फल बहुत सा भाग मालिकों द्वारा हड़प लिया जाने पर भी वे लोग घरेलू उद्योग-धन्धों या व्यवसायों से निर्वाह करने वालों की अपेक्षा अधिक खुशहाल रहते हैं। साधनहीन श्रेणी की शोषण

---

* National Herald, Lucknow, August 3, 1952.

+ गांधी विचार दोहन पृष्ठ १३२, १३३

से मुक्ति की इच्छा का प्रयोजन अपनी आर्थिक और सासारिक अवस्था को गिरा लेना नहीं है। इसलिये यह श्रेणी घरेलू उद्योग-धन्धों का भरोसा नहीं कर सकती। पूजीपति श्रेणी को घरेलू उद्योग-धन्धों से यह लाभ अवश्य है कि वे अधिक स्वस्थ साधनहीनों को अपने कारोबार मे खीचकर बेकार हो गये लोगों को घरेलू उद्योग-धन्धों में खपने के लिये छोड़ दे सकते हैं। सगठित मजदूर श्रेणी का असन्तुष्ट और बेकार रहने वाला अग ही पूजीवादी व्यवस्था के लिये सबसे बडी आशका का कारण होता है। घरेलू उद्योग धन्धों का कार्यक्रम ऐसे लोगो को आधे पेट अवस्था मे चुप रखने का अच्छा साधन माना जा सकता है।

घरेलू उद्योग-धन्धे उसी अवस्था मे पनपते हैं जब समाज का अधिकाश खेती से निर्वाह करता हो या भूमि से जुडा हो। भारत इस अवस्था से आगे बढ़ चुका है। हमारे देश में आज ऐसे लोगों की सख्या करोड़ो तक पहुँच चुकी है जिनके पास खेती के लिये भूमि नहीं। ऐसे लोग औद्योगिक विकास की कमी के कारण जीविका का दूसरा अवसर भी नहीं पा सकते। इन लोगों की समस्या घरेलू उद्योग-धन्धो से हल नहीं हो सकती। ऐसे लोगो को कम उपजाऊ धन्धों मे फंसा कर आधे पेट रखने से पूजीपति श्रेणी को सस्ते मजदूर पा सकने की ही सुविधा बनी रहेगी। मजदूरी के लिये होड़ करने वाले ऐसे लोग मजदूरी के दर या श्रम शक्ति के मोल को सदा नीचा रखेंगे और पूजीपति श्रेणी के व्यवसायों के लिये समय पड़ने पर मिल सकने वाली श्रम शक्ति का भण्डार बने रहेंगे।

भूमिहीन हो गये लोगों को और देश की भूमि पर बोझ बनी हुई किसानों की सख्या को उचित जीविका देने का उपाय देश का शीघ्र औद्योगिकरण ही है। इस कार्यक्रम की सफलता हम समाजवादी रूस और चीन मे देख चुके हैं। परन्तु गाधीवाद उसका समर्थन नहीं कर सकता क्यों कि वैसा औद्योगीकरण पैदावार के मुख्य साधनों को समाज की सम्पत्ति बना देने पर ही सभव हो सकेगा। गाधी जी के नाम और गाधीवाद की दुहाई देने वाली इस देश की पूजीपति श्रेणी और इस की सरकार ने घरेलू उद्योग-धन्धों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये बडे-बडे मुनाफा देने वाले कल-कारखानों को कभी कम नहीं किया बल्कि उनकी सख्या को दिन प्रतिदिन बढाया ही है। घरेलू उद्योग-धन्धों के प्रति इस श्रेणी की श्रद्धा का रहस्य यही है कि औद्योगिक विकास

के स्वाभाविक परिणाम मे जो पूंजीवाद विरोधी शक्ति समाज में पैदा होती है, उसे घरेलू धन्धों के दलदल मे फंसा कर निष्क्रय बना दिया जाये। पूंजीपति समाज पैदावार के साधनों पर तो अपना नियंत्रण रख सकें और समाज के भरणपोषण की जिम्मेवारी घरेलू-उद्योग-धन्धों पर डाल दें।

घरेलू उद्योग-धन्धों को मशीनों की तुलना मे समाज की आवश्यकताओं के लिये अपर्याप्त और प्रतिक्रियावादी देख कर भी गांधीवाद उनका समर्थन केवल इसलिये करता है कि इस कार्यक्रम से वह श्रेणी संघर्ष को टाल देने की मिथ्या आशा करता है। यह गाधीवाद के ऐतिहासिक ज्ञान की कमी है। दास प्रथा के युग में और उसके बाद मशीनों के विकास से पूर्व भी छोटे औजारों और हाथ के श्रम से पैदावार किये जाने के युग में भी साधनवान और साधनहीन श्रेणियाँ मौजूद थीं, साधनहीनों का शोषण होता था और श्रेणी संघर्ष के कारण तब भी मौजूद थे। भारत मे (East-India) ईस्ट इडिया कम्पनी द्वारा महीन कपड़े तय्यार कराने का इतिहास इसका अच्छा खासा प्रमाण है। एक छोटी श्रेणी का अधिकाश साधनों पर अधिकार जमा कर जनता के विराट अंश का शोषण करना ही श्रेणी संघर्ष की भावना का कारण है। इसकी जिम्मेवारी मशीन पर नहीं वल्कि पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने और स्वामियों के मुनाफा कमा सकने के अधिकार में है।

गाधीवाद ऐसी व्यवस्था को दूर नही करना चाहता। इस व्यवस्था का विरोध उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर करना चाहता है। इस लिये वह मशीनों के स्थान मे घरेलू उद्योग-धन्धों द्वारा शोषण दूर करने का उपदेश देता है। शोषण के मूल कारण, समाज में कुछ लोगों के साधनों के मालिक होने और शेष के साधनहीन होने को तो घरेलू उद्योग-धन्धे दूर नही कर सकते, अलबत्ता साधनहीन श्रेणी को बड़ी सख्या में केन्द्रित और सगठित होने का अवसर न देकर उनमे श्रेणी चेतना और उनके सामूहिक प्रयत्नों के अवसर को घटा सकते है। गाधीवाद साधनहीनों को समझाना चाहता है कि तुम अपनी इच्छा से मिलों और कारखानों में जाकर अपना शोषण कराते हो। इसका कारण तुम्हारा सासारिक लोभ है। यदि तुम शोषण से बचना चाहते हो तो अपना निर्वाह घरेलू धन्धों से कर लो! यदि तुम अपनी इच्छा

से मिलों में काम करते हो तो तुम्हें मालिक श्रेणी के विरुद्ध आवाज नहीं उठानी चाहिये। शोषण से बचने का उपाय श्रेणी संघर्ष द्वारा उत्पादक साधनों का सामाजीकरण नहीं बल्कि अपनी झोपड़ी में बैठ कर करघा चलाना है। यदि उसमें निर्वाह नहीं हो सकता तो क्या है? धर्म का पालन तो होता ही है।

गांधीवाद इस ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार नहीं करना चाहता कि मशीन ने समाज का कल्याण किया है। मशीन में उत्पादन बढ़ा सकने का गुण होने के कारण वह समाज का और भी अधिक कल्याण भविष्य में कर सकती है। शोषण निर्जीव मशीन नहीं करती बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था के कारण मशीनों पर अधिकार जमाये श्रेणी करती। इस व्यवस्था को बदल कर मशीनों के विकास और साधनहीन जनता की शोषण से मुक्ति, दोनों का सामंजस्य बहुत सीधी-सादी बात हो सकती है।

मशीनों द्वारा सामूहिक और सामाजिक रूप में आवश्यक पदार्थों को पैदा करने की प्रणाली पैदावार के साधनों का सामाजीकरण आवश्यक कर देती है। यही समाज के भावी विकास का मार्ग है। इसके विपरीत घरेलू उद्योग-धन्धे पैदावार को व्यक्तिगत ढंग से करने का तरीका है और यह सामन्तवादी प्रणाली का अवशेष है। इस ढंग पर अड़ना समाज को पुरानी व्यवस्था से बांधे रखने का बहाना है। गांधीवाद की दृष्टि से चाहे सम्पूर्ण समाज मशीनों के अभाव में आवश्यकतायें पूरी होने के कारण तड़पता रहे परन्तु मशीनों के विकास द्वारा पूंजीवाद के विरुद्ध असन्तोष की परिस्थिति आने देना उचित नहीं। इस व्यवस्था में होने वाले शोषण को गांधीवाद शाश्वत सत्य अहिंसा का नाम देता है। गांधीवाद साधनहीन श्रेणी की असह्य अवस्था को और औद्योगिक विकास द्वारा उनमें उत्पन्न हो गई शोषण-विरोधी चेतना को श्रेणी मैत्री के उपदेश से शान्त कर देना चाहता है।

५
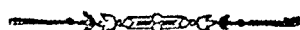
गांधीवादी श्रेणीमैत्री

गांधीवाद इस बात से तो इनकार नही कर सकता कि हमारा समाज मालिक और सेवक श्रेणियों मे बंटा हुआ है। समाज में दो श्रेणियाँ होते हुए भी वह समाज में शान्ति चाहता है। गांधीवाद कहता है कि मालिक और सेवक श्रेणियों के हितों मे विरोध नही बल्कि समता है। श्रेणियों की प्रतिद्वन्द्विता दूर करने और शाश्वत सत्य-अहिंसा का आदर्श पूरा करने का मुख्य उपाय गाधीवाद की दृष्टि में श्रेणीमैत्री की भावना है। गांधीवाद के अनुसार श्रेणी मैत्री का अर्थ मालिक और सेवक (शोषक और शोषित) श्रेणियों मे पिता-पुत्र या संरक्षक और रक्षित का सामतवादी आदर्श फिर से कायम करना है। इस सामन्त-वादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का रूप वर्णाश्रम धर्म था। गाधीवाद आज भी वर्णाश्रम धर्म को ही समाज की विषमता या श्रेणी सघर्ष से बचने का उपाय बताता है।

वर्णाश्रम धर्म की स्तुति करते हुए गांधीवाद कहता है—"कोई हिन्दू वर्णाश्रम की उपेक्षा नही कर सकता। इस प्रथा को समझ कर, दोषपूर्ण मालूम होने पर उसका ज्ञानपूर्वक त्याग किया जा सकता है, और यदि यह प्रथा धर्म की निर्दोष विशेषता है तो (और वह है, इस लिये) इसका पोषण तथा पुनरुद्धार करना चाहिये। वर्णाश्रम की शोधता हिन्दुधर्म में हुई है अवश्य, पर इसके पीछे जो सिद्धान्त है वह हिन्दुओं को ही लागू होता है, औरों को नही, ऐसा नहीं। भले ही आज जगत उसे स्वीकार न करे। उतना वह खोवेगा। आज नही तो कल जगत को उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।" ससार के कल्याण का उपाय वताये जाने वाले वर्णाश्रम धर्म का परिचय गांधीवाद इस प्रकार देता है—"वर्ण अर्थात धन्धा। वर्ण धर्म के सिद्धान्त को सक्षेप में इस

प्रकार रख सकते हैं, जो मनुष्य जिस कुटुम्ब में पैदा हो उसका धंधा, यदि वह नीति विरुद्ध न हो तो, धर्म भावना से करे, और ऐसा करते हुए जो अर्थ प्राप्ति हो उसमें से सामान्य आजीविका भर को रख कर शेष को सार्वजनिक कल्याण में लगावे।

"वर्ण यह धर्म है, अधिकार नहीं। मतलब इसका यह है कि हरेक वर्ण को चाहिये कि अपने अपने कर्म को धर्म समझ कर पालन करे। उदर पोषण यह उसका यत्किंचित फल है। वह मिले या न मिले तो भी समझदार को अपने धर्म रत रहना चाहिये।" *

वर्णाश्रम धर्म गांधीवाद का आविष्कार नहीं है। वह सामन्तकाल की आर्थिक व्यवस्था थी। उसका अधिक विश्वास योग्य और व्यापक परिचय हमें मनुस्मृति और तत्कालीन दूसरे ग्रंथों से मिल सकता है। हिन्दू सामंतवादीकाल में वर्णाश्रम धर्म का क्या रूप था? और किस रूप में वह अभी तक पुरानी आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव से घिसटता चला आ रहा है, इस देश के लोगों से छिपा नहीं। वर्णाश्रम धर्म का मुख्य प्रयोजन साधनवान शासक श्रेणियों के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रण को वंश परम्परा के रूप में सुरक्षित रखना और साधनहीन श्रेणी को कभी भी साधनवान होने का अवसर न देना था ताकि वे निरंतर स्वामी श्रेणी की सेवा और उनके लिये आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करने के कठिन और अप्रिय श्रम करने के लिये विवश रहें।

वर्णाश्रम धर्म उस समय की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था थी जब पैदावार का मुख्य साधन भूमि थी और भूमि से पैदावार करने वाले लोग भी भूस्वामी की सम्पत्ति माने जाते थे। यह प्रथा भारत की ही विशेषता न थी। योरुप में यह प्रथा सर्फडम के नाम से प्रचलित रही है। इस प्रथा का मुख्य आधार व्यक्तियों के धन्धे या जीविका उनके वंश से निश्चित रखने में थी। शासक का बेटा ही शासक होने का और पंडित का बेटा पंडित होने का अधिकारी था। जुलाहे, किसान, बढ़ई, चमार और भंगी की सन्तान को अपने बाप दादा के धन्धे से इनकार करने का अधिकार और अवसर न था। भारत के देहातों में इसी परम्परा के आधार पर आज भी नाई और चमार की सन्तान ठाकुर, ब्राह्मण की धोती छांटने और उनके मरे हुए पशुओं को ठिकाने लगाने की सेवा से इनकार

---

* गांधी विचार दोहन पृष्ठ २४ दिसम्बर १९४४ संस्करण

नही कर सकती और ब्राह्मणों की सन्तान समाज के किसी भी परिवार मे जन्म, मृत्यु, विवाह या दूसरे सस्कार के अवसर पर या पूजा पुरश्चरण द्वारा सकट से छुटकारा पाने की इच्छा करने वालों से अपना कर उगाह सकती है।

वर्णाश्रम धर्म के मुख्य नियामक मनु के आदेशों के अनुसार साधन हीन श्रेणी का शिक्षा ग्रहण करके अथवा अन्य किसी प्रकार मालिक श्रेणी से समता की इच्छा या प्रयत्न करना अनैतिकता, हिंसा और अपराध माना जाता था। पढ़ने-लिखने, तथा आध्यात्मिक ज्ञान को ब्राह्मणों का और शस्त्र विद्या को क्षत्रियों का ही अधिकार बना दिया गया था ताकि दूसरी श्रेणियों के लोग शोषण के प्रति विरोध की भावना ही न पा सकें। वे दूसरों के उपयोग मे आने वाले पशुओं की भॉति मूक बने रहे। मालिकों के वश से उत्पन्न हो जाने से ही व्यक्ति को साधनहीनों का शोषण करने के अधिकार मिल जाते थे और इन अधिकारों का समर्थन ईश्वरीय न्याय के नाम पर किया जाता था। साधनहीनों मे यह विश्वास उत्पन्न कर दिया गया था कि उनके जीवन का उद्देश्य साधनवानों के सतोष और तृप्ति का साधन बनना ही है। यही काम आज गाधीवाद करना चाहता है। गाधीवाद हमें विश्वास दिलाता है कि "हिंदु पूर्वजों ने कठिन तपश्चर्य्या से इस महान नियम (वर्णाश्रम धर्म) की खोज की और यथाशक्ति उसका पालन किया। जगत यदि इस धर्म अथवा नियम का अनुसरण करे तो सर्वत्र सतोष फैल जाय, झूठी प्रतिस्पर्धा मिट जाय, ईर्ष्या दूर हो जाय, कोई भूखों न मरे, जन्म-मरण बराबर रहे और व्याधिया दूर रहे।" *

इस वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में गाधीवाद के अनुसार शूद्र अथवा साधनहीन श्रेणी के जीवन का धर्म यह है—" ·उसके पास कोई मिल्कियत कभी होने वाली ही नही है, इसलिये जो शूद्र केवल धर्म समझ कर परिचर्या ही करता है और जिसे मालिक होने का लोभ तक भी नही है वह हजार वन्दना के योग्य है।" + इस उपदेश के अनुसार शूद्र या साधनहीन श्रेणी का सबसे बडा धर्म मालिकों की परिचर्या, सेवा और उनके उपयोग में आना ही है। शूद्र या साधनहीन को स्वयं साधनों का स्वामी बन जाने की महत्वकाक्षा कभी न करनी चाहिये।

* गाधीवाद दोहन पृष्ट ३५ १९४४ स०

+ गाधीवाद दोहन पृष्ट २६

शूद्र या साधनहीन शोषित श्रेणी का यह धर्म उनके जन्म से ही निश्चित हो जाता है। यह बात साधनहीनों के गले से उतारने के लिये उन्हें उपदेश दिया जाता है कि तुम अपने पिछले जन्म के पापों से गरीब हो और अमीरों ने पिछले जन्म में तपस्या की थी। गांधीवाद स्पष्ट कहता है कि वर्ण का निर्णय सामान्यत: जन्म से किया जाता है। साधनहीन श्रेणी में जन्म ईश्वरीय न्याय से होता है। इसलिये साधनहीनों का साधनवान होने का प्रयत्न करना ईश्वरीय न्याय का विरोध करना है। यदि सामर्थ्य भर मालिक की सेवा का धर्म पालन करके भी शूद्र या साधनहीन का पेट नहीं भरता तो भी शूद्र को शिकायत नहीं करनी चाहिये। गांधीवाद समझाता है कि वर्णधर्म (धंधे) के पालन का फल "उदर पोषण" (पेटभरना) तो यत्किंचित (मामूली बात) ही है। वह मिले न मिले (पेट भरे या न भरे) समझदार को अपने धर्म (धंधे) में रत रहना चाहिये।"* यदि साधनहीन श्रेणी गांधीवाद के इस उपदेश के अनुसार चलती है तो वह अपनी अवस्था को सुधारने और शोषण से बचने की इच्छा को धर्म विरुद्ध मानेगी और श्रेणी संघर्ष के अंकुर उत्पन्न न हो सकेंगे। इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि मालिक श्रेणी के शोषण के अधिकार निरंकुश बने रहें।

इस श्रेणी मैत्री का अर्थ समाज के अधिकांश भाग का सदा ही पीडित बने रहना होगा। यही गांधीवाद की दृष्टि में, "सर्वत्र संतोष" फैलकर झूठी प्रतिस्पर्द्धा मिट जाना और ईर्ष्या दूर हो जाना है अर्थात साधनहीन श्रेणी का अपने प्रति अन्याय का विरोध न करना ही सत्य-अहिंसा और गांधीवाद के श्रेणी मैत्री का आदर्श है। यह शेर और खरगोश की उस मैत्री का आदर्श है जिसमें खरगोश बिना आपत्ति के शेर का भोजन बन जाने के लिये तय्यार रहे। शोषित और शोषक की ऐसी मैत्री तभी तक निभ सकती है जब तक मालिक श्रेणी के हाथ में साधनहीनों को नियंत्रण में रखने के लिये जीविका निर्वाह के साधनों पर एकाधिकारी, समाज पर शासन करने के साधन पुलिस, सेना और समाज के मस्तिष्क पर नियंत्रण रखने के साधन वर्णाश्रम धर्म और ईश्वर प्रेरणा के साधन भी बने रहें। जो धर्म साधनहीनों को अपनी

---

* इस उद्धरण में कोष्टक और कोष्ठकों के भीतर के शब्द हमारे लेखक की ओर से हैं शेष उद्धरण गांधी विचार दोहन से ज्यों का त्यों दिया गया है।

इच्छानुसार धन्धा चुन कर जीविका चलाना अधर्म और हिंसा समझता है, उस धर्म या नैतिकता का मनुष्यों की समता का दावा करना और विशेष रूप से दरिद्रों को भगवान (दरिद्र नारायण) वताना, उन से सहानुभूति प्रकट करना कितना बड़ा पाखंड और धोखा है ? गांधीवाद की श्रेणी मैत्री का क्रियात्मक आदर्श ऐसा ही है।

श्रेणी मैत्री के नाम पर गाधीवाद दावा तो साधनहीन दरिद्रनारायण श्रेणी की सहायता करने का ही करता है परन्तु उसके आचरण या व्यवहार से सहायता और रक्षा शोषक श्रेणी के अधिकारों की होती है। कहा जाता है कि गाधीवाद साधनवान श्रेणी को अपना धन भोग विलास मे खर्च न कर सार्वजनिक कल्याण में लगाने का उपदेश देता है। यदि पूंजीपति या मालिक श्रेणी अपनी सम्पत्ति और मुनाफों को सार्वजनिक कल्याण में ही लगाना चाहती है तो इस सम्पत्ति और मुनाफे के साधनों को सार्वजनिक या सामाजिक सम्पत्ति बना देने मे ही क्या एतराज ? इस उपदेश का प्रयोजन साधनवान श्रेणी को यह समझाना है कि क्षणिक भोग विलास की अपेक्षा समाज पर अपना निरतर शासन कायम रखना ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। गाधी जी साधनहीन श्रेणी को तो सासारिकता के लोभ से बचने का ही उपदेश देते रहे परन्तु दक्षिण अफ्रीका मे जब भारतीय व्यापारी और व्यवसायी श्रेणी के सम्पत्ति तथा मुनाफा कमाने के अधिकारों पर आच आने लगी तो इस श्रेणी को गाधी जी ने यह उपदेश नही दिया कि तुम्हारे धन्धे का प्रयोजन धन बटोरना या भोग विलास कतई नही, उदर-पोषण भी यत्किंचित ही है, वह पूरा हो या न हो, तुम धर्म मे रत रहो ! इस श्रेणी के सम्पत्ति और मुनाफा कमाने के अधिकारों की रक्षा के लिये उन्होंने आमरण सत्याग्रह का उपदेश दिया।

मालिक जमीन्दार श्रेणी के हितों के प्रति और जमीन्दारों द्वारा शोषित किसानों के प्रति गांधी जी का क्या दृष्टिकोण था यह १६२१ के सत्याग्रह से ही स्पष्ट हो गया था। उस समय देश के किसान लगानबन्दी द्वारा स्वतन्त्रता के संघर्ष मे सहयोग देने के लिये आतुर थे। किसानों के लगान न देने का अर्थ जमीन्दारों का लगान से या जमीन्दारी से हाथ धो बैठना भी होता इसलिये गांधी जी ने यह बात स्पष्ट कर दी—
"It is not contemplated that at any stage of Nonco-operation we would seak to deprive the Zamindars of

their rent (हमारा यह विचार बिलकुल नहीं है कि असहयोग आन्दोलन मे किसी भी अवसर पर जमीन्दारों का लगान बन्द कर दिया जाये) इतना ही नहीं गाधी जी ने इस बात पर भी जोर दिया कि "Kisans must be advised scrupulously to abide by the terms of their agreement with the Zamindars whether such is written or inferred from custom (किसानों को समझा देना चाहिये कि जमीन्दारों से किये गये अपने समझौते का धर्मपूर्वक पालन करें। यह समझौता चाहे लिखित हो या रिवाज के अनुसार चला आया हो।)+ स्वय भूख से व्याकुल किसानों को विवशता में अपने श्रम का जो भाग जमीन्दारों को देना पड़ता रहा है, उसे गाधी जी किसानों और जमीदारों का लिखित या रिवाज से चला आया समझौता कहते हैं। जिस किसान का परिवार भूख से बिलबिला रहा हो उसे किसी भी शर्त पर काम करने के लिये तैयार किया जा सकता है। रिवाज से चले आये इस समझौते मे जमीन्दारों द्वारा किसानों से ली जाने वाली बेगार भी शामिल मानी जायगी। यदि ऐसे ही न्याय को इतिहास में शाश्वत सत्य-अहिंसा माना जाता तो दास प्रथा भी कभी समाप्त न हो सकती परन्तु गाधी जी का रवैया इस विषय में स्पष्ट है।

किसानों की शोषण से बचने की माग में उन्हे श्रेणी संघर्ष की भावना दिखाई देती है इसीलिये उन्हों ने उत्तर प्रदेश के किसानों को आश्वासन दिया था—"I shall be no party to dispossesing the propertied classes of their private property without just cause you may be sure that I shall throw the whole weight of my influence in preventing a class war . Supposing there is an attempt unjustly to deprive you of your property, you will find me fighting on your side" (सम्पत्ति की स्वामी श्रेणी से बिना किसी न्याय पूर्ण कारण के उनकी सम्पति छीन लेने मे मै कभी सहयोग नहीं दे सकता " आप लोग विश्वास रखिये कि मैं श्रेणी सघर्ष को रोकने मे अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा। यदि कभी अन्यायपूर्ण ढग से आप लोगों की सम्पत्ति छीनी जायगी तो आप मुझे अपनी

+ *Young India May 18, 1921.

सहायता में लड़ते हुए पायेंगे।"* गांधी जी के यह शब्द उनकी दरिद्र नारायण के प्रति सहानुभूति, न्याय की धारणा और श्रेणी संघर्ष के प्रति उनके विरोध को स्पष्ट कर देते हैं। किसानों का स्वयं भूखे और कंगाल रह कर चले आये रिवाजों के अनुसार अपनी कमाई के साधनों की मालिक श्रेणी को सौंपते जाना ही उन के विचार में श्रेणीमैत्री का आदर्श था। गांधी जी के वक्तव्य में न्यायपूर्ण कारण (without a just cause) और श्रेणीसंघर्ष (class war) शब्द एक विशेष भावना और उद्देश्य के प्रतीक हैं। गांधी जी के विचार में सम्पति की मालिक श्रेणी की सम्पत्ति छीन ली जाने का न्यायपूर्ण कारण एक ही हो सकता था कि मालिक उसे कर्ज पूरा न कर सकने के कारण गवा दे। श्रेणीसंघर्ष का अर्थ था साधनहीन श्रेणी का अपनी साधनहीनता और परवशता से मुक्ति पाने की इच्छा, जिसे वे किसी अवस्था में सहन नहीं कर सकते थे क्योंकि यह सामन्तकालीन वर्णाश्रम धर्म के आदर्श के विरुद्ध है। इससे क्रमागत आर्थिक व्यवस्था की रक्षा नहीं हो सकती। गांधीवाद के श्रेणी मैत्री के उपदेश की नैतिक और क्रियात्मक परख उसके अछूतोद्धार के कार्य क्रम से और भी अच्छी तरह हो जाती है।

गांधीवादी अछूतोद्धार

गांधीवाद के श्रेणी मैत्री के उपदेश का क्रियात्मक रूप क्या है? वर्णाश्रम धर्म द्वारा समाज से झूठी प्रतिस्पर्धा और ईर्षा मिटा कर कैसा सन्तोष सर्वत्र फैल सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर इतिहास में मौजूद हैं। सामन्तकाल में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था ने मनुष्यों की एक बड़ी संख्या से पैदावार के साधनों पर अधिकार का अवसर छीन कर उन्हें ऊंचे बन बैठे वर्णों या श्रेणी की सेवा के लिये पीढ़ी दर पीढ़ी विवश कर दिया था। साधनहीन शोषित श्रेणी में शोषण के बन्धनों को तोड़ने की भावना ही उत्पन्न न हो सके इसलिये वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था ने शोषितों अथवा शूद्रों के लिये शिक्षा और चेतना के साधन ही वर्जित कर दिये थे और पैदावार के साधनों पर उनका स्वामित्व पाप ठहरा दिया था। शोपित श्रेणी का शिक्षित वर्ग के सम्पर्क में आना भी निशिद्ध ठहरा

---

* M K Gandhis Interview to Deputation of the United Provinces Zamindars P 62

दिया गया। इस श्रेणी के लिये ईश्वर विश्वास और धर्म पालन का अर्थ ठहराया गया अपनी दासता को शाश्वत सत्य और ईश्वरीय न्याय मान कर हीन अवस्था में सतुष्ट रहना। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार मालिक श्रेणी का यह कर्त्तव्य था कि अपने सेवकों का पालन करें क्योंकि सेवक श्रेणी के श्रम पर ही उनका अस्तित्व और वैभव निर्भर करता था। शोषक और शोषित के सम्बन्ध को आदर्श बनाने के लिये उस पर प्रेम का आवरण चढ़ाने के लिये मालिक और सेवक में पिता-पुत्र के सम्बन्ध की कल्पना कर ली गई। वर्णाश्रम धर्म के इसी सामन्तकालीन आदर्श को गांधीवाद आज फिर चालू करना चाहता है जब कि मालिक श्रेणी श्रमिक सेवक श्रेणी के जीवन का उत्तरदायित्व न लेकर टकों के जोर उनकी श्रम शक्ति निचोड़ कर अपना काम चला रही है परन्तु गांधीवाद सेवक श्रेणी से मालिकों को पिता माने रहने की आशा जरूर करता है।

देश और समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था निर्बल हो गई। बाहर से आने वाली परिस्थितियों ने, उदाहरण के लिए मुसलमान और ईसाई सम्प्रदायों की हिन्दुओं से प्रतिद्वन्द्विता ने और अंग्रेजों की शासन नीति ने वर्णाश्रम धर्म द्वारा पीड़ित साधनहीन श्रेणी को सिर उठाने का अवसर देना आरम्भ किया। अछूत बना दी गई श्रेणी के हिन्दू समाज से पृथक हो कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना लेने के सुझाव और प्रयत्न आरम्भ हुए। अछूत लोग हिन्दू समाज का अंग बने रहने पर मानवीय अवस्था से गिरे हुये और अस्पृश्य रहते हैं। परन्तु दूसरे सम्प्रदाय उन्हें मानवी समता की आशा दे देते हैं।

ऐसी अवस्था में हिन्दुओं ने आत्मरक्षा के लिये अछूतों को हिन्दुओं से पृथक न होने देने का अछूतोद्धार आन्दोलन आरम्भ किया। अछूतोद्धार आन्दोलन के दो रूप हैं—एक स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज का 'शुद्धि' से अछूतोद्धार आन्दोलन और दूसरा गांधीवादी या कांग्रेसी अछूतोद्धार का आन्दोलन। स्वामी दयानन्द ने अछूतों को दलित और शोषित अवस्था से उबारने के लिये वर्णव्यवस्था के सामन्तकालीन जन्मगत बन्धन को तोड़कर कर्म की स्वतंत्रता से (जिसे पूंजीवादी काल में पेशे की स्वतन्त्रता कहते हैं) अछूतों को समता का (दूसरे वर्णों द्वारा किये जाने वाले पेशे कर सकने का) अवसर देना

चाहा। गाधीवाद को अछूतों के पेशे का (वर्णाश्रम) जन्मगत बन्धन तोड़ना स्वीकार नही। गाधीवादी अछूतोद्धार आन्दोलन सामन्तकालीन, जन्म से निश्चित वर्णाश्रम धर्म को बनाये रख कर केवल ऊंचे वर्णों की सद्भावना, कृपा और हृदय परिवर्तन से अछूतों की समस्या हल कर देना चाहता है।

यह याद दिलाने की आवश्यकता नही कि अछूतपना किसी कर्म का परिणाम नही केवल जन्मगत गुण या कलक है। वर्णाश्रम के अनुसार अछूत लोग कुछ खास ही पेशे कर सकते थे। यह परम्परा अधिकाश में अब भी चालू है। गाधीवाद एक ओर तो अछूत प्रथा के आधार वर्णाश्रम धर्म या जन्म से जीविका निश्चित करने की व्यवस्था को फिर से कायम करना चाहता है दूसरी ओर वह अछूत प्रथा को मिटा देने का भी दम भरता है। गाधी जी अछूतों के सबसे बड़े हितचिन्तक होने का दावा करते थे। उन्हों ने अछूतों को हिन्दू मन्दिरों मे प्रवेश कराने और सवर्णों के कुओं से जल भरने देने के आन्दोलन भी चलवाये। एक अछूत कन्या को पोष्यपुत्री के रूप मे अपने आश्रम मे भी रख लिया था। अछूतों को हिन्दुओं से भिन्न प्रतिनिधित्व देने क प्रस्ताव पर १६३२ मे गाधी जी ने अनशन भी किया परन्तु उन्होंने अछूतपने के मूल कारण पर आघात करना कभी उचित न समझा। अछूतों के अछूत होने का मूलकारण इन लोगों का जीविका के लिये कुछ खास पेशे करने के लिये मजबूर होना है। यदि अछूत लोग श्रेणी के रूप मे इन पेशों से इनकार कर देते, यह काम सवर्णों को स्वयम करने पड़ते तो समाज को निकृष्ट और उत्कृष्ट श्रेणियों मे बाटने वाली अछूत पेशों की दीवार स्वयम ही टूट जाती। स्वामी दयानन्द के वर्ण या जीविका को स्वतत्रता से चुनने के आन्दोलन को दृढता और सगठित रूप से चलाने का ऐसा परिणाम हो सकता था। गाधी जी ऐसा सुझाव देने से भी सतर्क रहे। वे केवल अछूतों को भगवान का प्यारा बता कर ही उन्हे गले लगा लेने की दुहाई देते रहे ताकि सवर्णों या मालिक श्रेणी के आर्थिक अधिकार पर कोई आच न आये।

गाधी जी के अछूतोद्धार आन्दोलन की मूल प्रेरणा क्या थी? इस आन्दोलन का मूल प्रयोजन अछूतों को उनकी अमानवीय अवस्था से उबार कर उन्हे दूसरे मनुष्यों के समान सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक अधिकार देकर विकास का अवसर देना था या अछूतों की

बड़ी संख्या को हिन्दू पूंजीपति श्रेणी की सुविधा और अधिकार पूर्ण स्थिति की रक्षा का साधन बनाये रखना था ? इस बात का उत्तर अछूतों को हिन्दुओं से पृथक प्रतिनिधित्व देने के विरोध में गांधी जी के अनशन करने और इस अनशन के राजनैतिक परिणामों से स्पष्ट हो जाता है। अछूतों के निर्वाचन क्षेत्र अलग बना कर उनकी संख्या के अनुपात में उन्हे विधान सभाओं मे पृथक प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव कैसी परिस्थितियों में अंग्रेज सरकार ने किया ? यह प्रस्ताव व्यवहार में लाया जाने पर इसके क्या परिणाम होते ? यह ध्यान में रखना उपयोगी है।

अछूतों को हिन्दुओं से पृथक प्रतिनिधित्व देने के प्रस्ताव का कारण अंग्रेज सरकार की विधान सभाओं मे कांग्रेस की बढी हुई शक्ति को घटाने की इच्छा थी। इस सुझाव की जड मे हिन्दू पूंजीपति तथा मुसलिम पूंजीपति वर्गों की आपसी होड भी थी। भारत की आपसी फूट के कारण ही अंग्रेजों को भारत मे अपना शासन जमाने का अवसर मिला था। इस देश का शासन सुविधा से करने में भी अंग्रेजों ने भारत की फूट को प्रबल साधन बनाये रखा। अंग्रेजों से पहले भारत मे फूट का कारण राजाओं और नवाबों की देश के टुकडों पर शासन जमा पाने की होड थी। देश का शासन अंग्रेज के हाथ चले जाने के बाद अंग्रेज सरकार ने साम्प्रदायिक आधार पर रियायतें बाटनी शुरू की। भारत के लोगों का साम्प्रदायिक भेद उनमें फूट का आधार बन गया। १६१० ई० से पहले भारत मे जनगणना केवल ईसाई, मुस्लिम और हिन्दू सम्प्रदायों के अन्तर्गत होती थी। १६०६ में सर आगाखा के नेतृत्व में मुसलमानों से यह शिकायत कराई गई कि जनगणना का यह आधार ठीक नहीं है। जो लोग ईसाई या मुसलमान नहीं हैं, वे सब हिन्दुओं में गिन लिये जाते हैं। इस ढंग से ऐसे लोग जो ईसाई या मुसलमान नहीं है परन्तु हिन्दू भी नहीं है, हिन्दुओं में गिन लिये जाते हैं और हिन्दुओं को अपनी वास्तविक संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

सर आगाखा और मुस्लिम लीग की हिन्दुओं को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व मिलने की शिकायत अंग्रेज सरकार की इच्छानुकूल थी। अंग्रेज सरकार विधान सभाओं से कांग्रेस का प्रतिनिधित्व घटाना चाहती थी। कांग्रेस का मुख्य आधार निसन्देह अधिक शिक्षित,

२५५

राष्ट्रीय दृष्टि से सचेत हिन्दू ही थे। हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व घटाने से कांग्रेस का प्रतिनिधित्व घट सकता था। सरकार ने अहिन्दू लोगों की पहचान के लिये दस शर्तें निश्चित कीं —(१) जो लोग ब्राह्मण को सर्वोच्च न मानते हों। (२) जो लोग अपना गुरु मंत्र ब्राह्मण से अथवा हिन्दू गुरु से न ग्रहण करते हों। (३) जो वेद को न मानते हों। (४) जो हिन्दू देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा करते हों। (५) जिनके संस्कार और पूजा पाठ ब्राह्मण न करते हों। (६) जो ब्राह्मण को पुरोहित न मानते हों। (७) जो हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश न कर सकते हों। (८) जिनके स्पर्श से या समीप होने से हिन्दु अपने आपको अपवित्र हो गया माने (९) जो लोग अपने शव का दाहन कर भूमि में दबाएं। (१०) जो लोग गो मांस (मृतक या स्वयं मार कर) खाते हों। सरकार द्वारा इस बटवारे का जो भी प्रयोजन रहा हो परन्तु इस बात में सन्देह नहीं है कि उपरोक्त दस पहचानों में से २, ४, ५, ६, ७, ८ और १० के अनुसार अधिकांश अछूतों को हिन्दू नहीं माना जा सकता।

अंग्रेज सरकार की कांग्रेस को कमजोर कर देने की चाल को विफल बना सकने के विचार से या हिन्दू सम्प्रदाय या समाज के राजनैतिक स्वार्थ के लिये अछूतों के प्रतिनिधित्व का अधिकार हिन्दुओं के हाथ में बनाये रखने के लिये चाहे गांधी जी की प्रशंसा की जा सके परन्तु निस्वार्थ न्याय बुद्धि और नैतिकता के नाते ऐसे लोगों को हिन्दू सम्प्रदाय का कहना—जो हिन्दू सम्प्रदाय के पूजा स्थान में प्रवेश न कर सकते हों, जिनका स्पर्श और सामीप्य हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता को अपवित्र कर देता हो, उचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु गांधी जी ने ऐसे ही लोगों को हिन्दुओं का अभिन्न अंग बताया। इन अछूतों को पृथक प्रतिनिधित्व देना हिन्दुओं का अंगभंग बता दिया और इसके लिये अनशन कर बैठे।

गांधीवादियों ने गांधी जी के इस अनशन को बड़ी भारी नैतिक विजय बताया है। यदि हम सत्य और नैतिकता की बात छोड़ दें तो गांधी जी के इस अनशन की राजनैतिक सफलता यह थी —सरकारी सुधारों में विधान सभाओं के लिये अछूतों का जितना प्रतिनिधित्व सुरक्षित किया गया था गांधी जी ने उससे लगभग दूना प्रतिनिधित्व उन्हें देना स्वीकार कर लिया परन्तु विधान सभाओं में अछूत सदस्यों की

सख्या बढ जाने पर भी इसे वास्तव मे अछूतों का प्रतिनिधित्व नहीं कहा जा सकता। अग्रेज सरकार का प्रस्ताव था कि कुछ नियमित स्थान अछूतों द्वारा चुने गये अछूत प्रतिनिधियों के लिये रहे। शेप स्थानों के लिये अछूत हिन्दुओं के साथ मिल कर अपने सयुक्त प्रतिनिधि चुनें। गाधी जी के अनशन के प्रभाव से 'पूना के समझौते' मे यह तय हुआ कि अछूत अपने निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्येक स्थान के लिये चार प्रतिनिधि चुनें। वाद मे हिन्दू और अछूत मिल कर इन चारों प्रतिनिधियों मे से विधान सभा के लिये एक प्रतिनिधि निर्वाचित करें। स्पष्ट है कि अछूतों का ऐसा कोई प्रतिनिधि विधान सभा तक नहीं पहुच सकता जो अधिक समर्थ और चतुर हिन्दुओं को सतुष्ट न कर सकता हो।

गाधी जी ने अछूतों के प्रतिनिधियों द्वारा अपने लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाने और विधान सभा में पृथक स्थान दिये जाने की माग का विरोध किया। उनके विचार मे अछूतों नेताओं की यह नीति आत्मा हत्या की नीति थी। गाधी जी का दावा था कि अछूतो के वडे से वडे नेताओं की अपेक्षा भी वे स्वय ही अछूतो के सब से वड़े प्रतिनिधि थे, अछूतों के हित उनके लिये प्राणों के समान थे, सारे ससार के राज्य के वदले भी वे उनके हितों का बलिदान नहीं कर सकते थे।*

गाधीवादी अछूतोद्धार के प्रेम का यही स्पष्टीकरण है। वह अछूतों से इतना प्रेम करता है कि उन्हे किसी भी मूल्य पर हिन्दू मालिक श्रेणी के नियत्रण से स्वतत्र होने का अवसर नही दे सकता। गाधी जी ने अपनी घोपणा में यह भी कहा था कि अनशन वे अछूतों पर जोर डालने के लिये नहीं कर रहे। केवल उनका हृदय परिवर्तन करने के लिये कर रहे है। अनशन अछूत प्रथा की अन्यायपूर्ण भावना के विरुद्ध भी है। यदि इस अनशन से अछूत प्रथा समाप्त न हो जायगी तो वे उसके लिये फिर आमरण अनशन करेंगे।१ परन्तु इस घटना के अठारह वर्ष वाद तक गाधी जी ने दूसरे अनेक अनशन तो किये परन्तु अछूत प्रथा के विरुद्ध कभी न किया। गाधीवाद का श्रेणी मैत्री का उपदेश मालिकों के सेवकों से प्रेम के इसी आदर्श का रूप है जिसके अनुसार सेवकों के जीवन पर मालिकों का पूर्णनियत्रण रहना आवश्यक है। श्रेणी के इसी उपदेश से गाधीवाद हृदय परिवर्तन द्वारा समाज मे अहिंसात्मक साम्यवाद की स्थापना करने का दावा करता है।

---

* काग्रेस का इतिहास पृष्ठ ६२४ १ काग्रेस का इतिहास पृष्ठ ६५४

गांधीवादी साम्यवाद का दम्भ

गांधीवाद का मूल उद्देश्य समान्तवादी-पूजीवादी व्यवस्था को पलट कर कोई नयी व्यवस्था लाने के प्रयत्न का विरोध करना है। इस आर्थिक व्यवस्था को बदलने के प्रयत्नों को गांधीवाद हिंसा का नाम दे देता है और उन्हें मनुष्य का पतन करने वाली प्रवृतियां और भावना बता कर उनसे बचने का उपदेश देता है। गांधीवाद सामन्तवादी पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था में होने वाले घोर अन्याय, विषमता और शोषण से इनकार नहीं कर सकता। वह यह भी खूब जानता है कि शोषित जनता में इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के प्रति असतोष उत्पन्न हो चुका है और इस देश की जनता संसार के दूसरे देशों की जनता के उदाहरण से एक ऐसी न्यायपूर्ण समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के लिये चेतना और आशा पा चुकी है जो उन्हें वर्तमान दुख और शोषण से मुक्ति दिलाने के साथ साथ मनुष्य-समाज के ज्ञान और साधनों को विकास के फल स्वरूप एक सन्तुष्ट और विकास शील जीवन का अवसर दे सकता है। गांधीवाद जानता है कि शोषित जनता की यह चेतना अब समाज को निर्वाह और विकास का अवसर दे सकने के लिये असमर्थ हो गई सामन्तवादी और पूजीवादी व्यवस्था के लिये सबसे बड़ा खतरा है।

शोषित श्रेणी और सम्पूर्ण समाज को समृद्ध भौतिक जीवन का विश्वास दिलाने वाली समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रति जनता के झुकाव का विरोध गांधीवाद दो उपायों से करता है। प्रथम तो वह भौतिक सन्तोष पाने की प्रवृत्ति को ही पाप बता देता है। जीवन को स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत ले जाने वाले इन उपदेशों को विफल होते देख वह जनता को दूसरे प्रकार के समाजवाद या साम्यवाद का आश्वासन देता है, जिसमें समाजवाद के सभी गुण होंगे परन्तु हिंसा या पाप नहीं होगा। इस हिंसा विहीन समाजवाद को गांधीवादी आध्यात्मिक साम्यवाद, भारतीय साम्यवाद आदि नाम देकर भारतीय जनता को भरमाने का यत्न करते हैं।

जनता को भरमाने के लिये समाजवाद का दम्भ करने वाले लोग और गांधीवादी प्राय ही 'समाजवाद' शब्द के स्थान पर 'साम्यवाद' शब्द को ही महत्व देते हैं। शब्दों की इस अदला-बदली का एक विशेष प्रयोजन है। 'साम्यवाद' को लक्ष्य बना कर वे जनता को यह

समझा देना चाहते हैं कि जनता केवल समता चाहती है। समता को लक्ष्य बना देने के बाद वे शब्दों के पैंतरों से यह समझाना आरम्भ करते हैं कि समाज में समता लाने के लिये शोषित वर्ग के श्रेणी रूप में संगठित हो कर संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं। पैदावार के साधनों को समाज की सम्पत्ति बनाने के झगड़े की भी कोई आवश्यकता नहीं? साधनों के मालिक अपने धर्म को पहचान कर स्वयं ही त्याग द्वारा गरीबों जैसा जीवन बिताने लगें। इस से समता हो ही जायगी। साधनवालों के भी गरीब जैसा जीवन बिताने पर साधनहीनों को कोई दुख और शिकायत का अवसर न रहेगा इस प्रकार धर्म को पहचानने और अहिंसा की भावना से हृदय परिवर्तन हो जाने पर ही अहिंसात्मक साम्यवाद समाज में हो जायगा।

समाजवाद का लक्ष्य केवल समता ही नहीं है। समता वैयक्तिक और सामाजिक विकास का साधन है। समाजवाद का लक्ष्य समाज की समृद्धि और स्वाभाविक विकास के मार्ग में आ गई अड़चनों को दूर करना है। समाज की समृद्धि के मार्ग में अड़चन का अर्थ है कि समाज के लिये आवश्यक पदार्थों की पैदावार करने की शक्ति होते हुए भी समाज के कल्याण में इस शक्ति का उपयोग न हो सकना। यह अड़चन पैदावार का लक्ष्य समाज की आवश्यकता पूर्ति न मान कर पैदावार के साधनों के स्वामियों का व्यक्तिगत मुनाफा मान लेने से पैदा होती है। इस अड़चन को हटाने का उपाय समाज को एक कुटुम्ब मान कर पैदावार के साधनों को समाज की सम्मिलित सम्पत्ति बना देना है। इसका उद्देश्य है, समाज के सामूहिक कल्याण के लिये पैदावार के साधनों को अधिक से अधिक बढ़ा कर, आवश्यक पदार्थों की पैदावार बढ़ाना और समाज के सभी व्यक्तियों को सन्तोष का अवसर देना। पैदावार के साधनों का सामाजीकरण हो जाने के दो परिणाम होते हैं —पैदावार को ऊंचे दामों खरीद सकने वालों के लिये ही सीमित न रख कर सभी लोगों की आवश्यकतापूर्ति के लिये पैदा करना और समाज से साधनवालों और साधनहीनों का भेद दूर कर शोषण का अवसर न रहना। पैदावार के साधनों का सामाजीकरण हो जाने से समाज में समता की अवस्था स्वयं ही आ जाती है।

समाजवादी या साम्यवादी समता का आदर्श सभी लोगों का दरिद्र हो जाना नहीं है। समाजवाद पैदावार के साधनों के सामाजी-

करण की मांग इसलिये नही करता कि साधनवानों का सुख देख कर समाजवादियों के कलेजे पर सांप लोटने लगता है। समाजवाद की इस मांग का प्रयोजन यह है कि समाज में पैदावार को यथेष्ट बढ़ाने की सामर्थ्य होते हुए भी समाज का बहुत बड़ा अंश भूखा नंगा है। यदि पूंजीपतियों को पैदावार करके मुनाफा कमाने की आशा न हो तो पैदावार के साधनों को बढाया नही जाता। पैदावार के साधन प्राय निठल्ले पडे रहते है। साधनहीनों को जीविका के लिये श्रम करने का अवसर भी नही मिलता और उनकी और भी अधिक दुर्दशा होती जाती है। पूंजीवादी व्यवस्था में भी पैदावार तो समाज मे खपत के लिये ही की जाती है परन्तु पैदावार की जाय या नहीं ? कितनी की जाय ? इन बातों का निर्णय पूंजीपति के मुनाफे की आशा से होता है। यदि पूंजीपति का मुनाफा पैदावार को कम करने से होता है तो वह समाज की आवश्यकता की चिन्ता न कर पैदावार को घटा देता है। पूंजीपति मनुष्यों को केवल मुनाफा दे सकने वाले ग्राहकों के रूप में देखता है मनुष्यसमाज के रूप मे नही। समाज से धन बटोर कर वह समाज की ग्राहक शक्ति को घटाता भी जाता है।

समाजवाद ऐसी समता की माग नही करता जिसमे अपेक्षाकृत सतुष्ट जीवन बिता सकने वाले भी असन्तुष्ट हो जाय। वह ऐसी समता की भी माग नहीं करता जिसमें समाज के लिये अधिक उपयोगी काम करने वाले लोगों से ऐसा काम कर सकने की परिस्थितियॉ छीन कर उनकी योग्यता घटा कर समाज के समृद्धि के स्तर को गिरा दिया जाये। न वह ऐसी समता चाहता है जिसमे साधनवान दरिद्रों और पीड़ितों को मुफ्त अनाज और कम्बल बॉट कर दया से भूखे और नगों को बचाते रहे। समाजवाद ऐसी समता चाहता है जिसमे साधनों के स्वामित्व के भेद से अवसर की विषमता न रहे।

समाजवाद की मांग है कि सभी लोगों को अपने सामर्थ्य के अनुसार जीविका के लिये श्रम कर सकने का समान अवसर हो, अपने श्रम का पूरा फल पा सकने का अवसर हो और शिक्षा द्वारा जीविका के लिये श्रम कर सकने की योग्यता बढ़ाने का समान अवसर हो। अवसर की यह समता-साधनों की समता अर्थात पैदावार के साधनों का सामाजीकरण कर देने पर ही सम्भव हो सकती है। समाज के एक छोटे से भाग का सम्पूर्ण साधनों पर अधिकार हो जाने और समाज के बहुत बड़े भाग

के साधनहीन बन जाने की अवस्था मे ऐसी समता नही हो सकती। साधनों से ही अवसर होता है और साधन न होने पर अवसर का अभाव। सम्पूर्ण समाज के सम्मिलित रूप मे और समान रूप से साधनों के स्वामी बन जाने पर ही सब लोगों क लिये अवसर की ऐसी समता हो सकती है कि सबको योगतानुसार जीविका क लिये समान अवसर हो, सब लोग विकास का अवसर पा सकें, जिसमे किसी का शोषण न हो सके। समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने की सीमा पर कोई बन्धन न हो और सब लोगों को अपने श्रम के फल के अनुसार अपनी भौतिक आवश्यकतायें पूर्ण करने का समान अवसर हो।

पैदावार क साधनों के सामाजीकरण से ही समाज मे सब लोगों को अपना व्यक्तिगत विकास कर सकने का समान अवसर मिल सकता है। अवसर की इस समता मे ही वर्तमान समाज मे मौजूद योग्यता की विषमता को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है। सामूहिक हित की इस परिस्थिति में ही व्यक्ति का दृष्टिकोण सामाजिक हो सकता है। अवसर की ऐसी समता मे ही समाज क व्यक्तियों को अपनी पैदावार की योग्यता बढाने का निर्बाध अवसर मिल सकता है और सामाजिक आवश्यकता पूर्ति क उद्देश्य से मनुष्यों के लिये आवश्यक पदार्थों की यथेष्ट पैदावार की जा सकता है। समाज की ऐसी अवस्था को ही कम्युनिज्म या साम्यवाद कहा जा सकता है जिसमें समाज का प्रत्यक व्यक्ति अपने सामर्थ्य भर श्रम करेगा और प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार पा सकेगा। परन्तु ऐसी साम्य-वादी अवस्था लाने के लिये पहली और अनिवार्य शरत पैदावार के साधनों का सामाजीकरण करक सब लोगा को विकास के लिये अवसर की समता दना और पैदावार क साधनों को बहुत अधिक बढ़ा कर पैदावार को यथेष्ट मात्रा मे कर सकना है। इसका उपाय है, साधनहीन श्रेणी के संघर्ष द्वारा समाज की आर्थिक व्यवस्था का परिवर्तन।

गांधीवाद साम्यवाद का आश्वासन तो देता है परन्तु विषमता और शोषण के कारणों को दूर करने की बात नहीं मानता। वह साम्यवाद क एक मात्र मार्ग पैदावार के साधनों क व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह सामूहिक सामाजिक स्वामित्व की बात नहीं मानता। यह परिवर्तन गांधीवाद की दृष्टि मे हिंसा है। इसलिये वह ऐसे साम्यवाद का

उपदेश देता है जिसमे साधनवान श्रेणी पैदावार के साधनों की मालिक बनी रह कर, स्वयं भोग विलास छोड़, साधनहीनों पर दया करेगी। यदि साधनहोन दरिद्रता के कारण दुखी हैं तो साधनवानों को भी साधनहीनों के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिये उन जैसा ही जीवन विताना चाहिये, अर्थात समाज मे दरिद्रता का साम्यवाद हो जाय! गाधीवाद का यह दृढ़ विश्वास है कि "करोड़ों को तो गरीब ही रहना है।" इसलिये अमीरों को गरीबों जैसा ही जीवन निर्वाह करना चाहिये। परन्तु साधनों और समाज के शासन पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहिये।

गाधीवाद शोषित श्रेणी के श्रेणीसंघर्ष द्वारा अपने शोषण और हिंसा से मुक्ति पाने की चेष्टा को सभी तरह से भ्रामक रूप देने और शिथिल करने की चेष्टा करता है। इस विषय मे गाधी जी ने अनेक ऐसे वक्तव्य दिये है जिनका आशय तो शोषण को मिटाना जान पड़ता है परन्तु उनका क्रियात्मक अर्थ शोषण क अवसर और अधिकार को बनाये रखना ही होता है। उदाहरणता गाधीजी का वक्तव्य :—

"मेरी राय में हिन्दुस्तान की और सारे ससार की अर्थ व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि उसमें बिना खाने-कपडे के कोई न रहने पावे। दूसरे शब्दों मे हर एक को अपने गुजर-बसर के लिये काफी काम मिलना चाहिये। यह आदर्श तभी पूरा होगा जब कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकता पूरी करने के साधनों पर जनता का अधिकार होगा । यह साधन सभी को बे रोक टोक मिलने चाहिये। उन्हे दूसरों को लूटने के लिये लेने-देने की चीज हरगिज नही बनने देना चाहिये।

"किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों मे धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक महान सामाजिक अपराध या रोग है, जिसका इलाज अवश्य होना चाहिये।" पैदावार के साधनों पर जनता का अधिकार होने की कामना प्रकट कर, समाज मे धन के केन्द्रीयकरण और लाखों के बेकार हो जाने के प्रति चिन्ता प्रकट कर गाधी जी ने यह विश्वास तो दिला दिया कि उनकी सहानुभूति साधनहीन श्रेणी के प्रति है। परन्तु इस "अपराध या रोग" का इलाज वे साधनहीन श्रेणी को अपनी सगठित शक्ति से करने की अनुमति नहीं देते। उनके विचार मे इसका एक उपाय तो खद्दर का प्रचार है और दूसरा साधनवान श्रेणी के हृदय परिवर्तन की प्रतीक्षा करना है।

श्रेणी संघर्ष के विषय में गांधी जी का कहना है—"यह कहना सही नहीं कि मैं वर्ग युद्ध के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करता। जिस चीज में मैं विश्वास नहीं करता वह वर्गयुद्ध को उकसाना या उत्तेजना देना या जारी रखना है। दिन-दिन मेरा यह विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्गयुद्ध को न होने देना पूर्णत सम्भव है। श्रमजीवियों के अपने श्रम को पहचानने से ही रुपया पैसा अपने उचित स्थान पर आ जायेगा क्योंकि रुपये पैसे से श्रम का मूल्य अधिक है।" —इस पहेली का क्या अर्थ हो सकता है ? श्रमजीवी अपने श्रम को कैसे पहचानें ? और पहचान लेने से रुपया-पैसा कैसे अपने स्थान या श्रमिकों के पास आ जायगा ? शायद इसका यह अर्थ हो कि श्रमजीवी अपने-अपने घरों में बैठ कर चरखा कातने लग जाय ! यह ठीक है कि श्रमजीवी संगठित रूप में अपनी मुक्ति की चेष्टा न करें तो वर्गयुद्ध स्वयं ही समाप्त हो जायगा ! गाधीवाद वर्गयुद्ध नहीं चाहता परन्तु वर्ग युद्ध के मूल कारण, दो वर्गों की उपस्थिति को दूर नहीं करना चाहता। वह स्वामी और सेवक वर्गों को समाज में बनाये रख कर ही आध्यात्मिक साम्यवाद की समता लाना चाहता है, स्वामी और सेवक की समता ?

पैदावार के साधनों पर जनता का अधिकार होने के आदर्श को धीमी आवाज में स्वीकार कर गाधीजी समाजवाद से अपने आदर्शों का भेद इस प्रकार स्पष्ट करते हैं —"समाजवादी और मुझमें बड़ा भारी भेद है। उसका सिद्धान्त यह है कि पहले सारी दुनिया को अपने खयाल का बना लें और फिर सब लोग यह करें। एक-एक के आचरण करने की कोई बात उनकी योजना में नहीं है। अहिंसा का मार्ग यह नहीं। उसका प्रारम्भ व्यक्तिगत आचरण से होता है।

"सब सम्पत्ति प्रजा की है, यह भी मैं मानता हूँ। भेद यह है कि वे लोग (समाजवादी) मानते हैं कि इसका प्रारम्भ सब एक साथ करें। मैं कहता हूँ कि अपने व्यक्तिगत आचरण में तो हमे इसका प्रारम्भ तुरत कर देना चाहिये। यदि हमारी ऐसी श्रद्धा है तो हम अपनी निजी जायदाद तो समाज को अर्पण कर दें। एक भी कौडी जब तक कोई रखेगा तब तक वह समाजवादी नहीं है। वे कानून से काम लेना चाहते हैं। कानून मे दबाव होगा। आज वे सब जो यह करते नहीं हैं इसका कारण तो यह है कि यह उनके बस की बात नहीं है—असमर्थ साधु हैं।

कम्युनिस्ट, समाजवादी जबरदस्ती करना चाहते हैं। हम डैमोक्रैटिक-जनमत्तावादी हैं।" *

उपरोक्त शब्द जाल से गांधीवाद समाजवाद के समर्थकों को क्या समझाना चाहता है? यदि समाजवादी सामाजिक और सामूहिक शक्ति से व्यवस्था के परिवर्तन का सुझाव देते हैं तो उनका व्यवहार हिंसा का मार्ग किस प्रकार है? यदि सामूहिक और सामाजिक शक्ति से परिवतन की मांग हिंसा है तो कांग्रेस का सत्याग्रह आन्दोलन क्या था? किसी भी प्रथा या व्यवस्था के लिये, जिससे पूरे समाज का सम्बध हो, समाज का समर्थन और मान्यता आवश्यक होती है। जनमत और सामूहिक शक्ति से समाज की मान्यता पा कर ही व्यवस्था में परिवर्तन किया जाना उचित है। यदि समाज साधनों के सामाजीकरण को स्वीकार न करे परन्तु कुछ लोग दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति माने जाने वाले पैदावार के साधनों का उपयोग स्वय करने लगें तो ऐसे लोग समाज के नियम और न्याय के अनुसार चोर-डाकू समझे जायगे। पैदावार के साधनों के सामाजीकरण क लिये सामूहिक चेतना उत्पन्न किये बिना व्यक्तिगत रूप से दूसरे की मानी जाने वाली सम्पत्ति पर हाथ डालना समाजवाद का मार्ग नहीं। यह व्यक्तिगत उच्छृखलता ही होगी। क्या इस प्रकार की व्यक्तिगत उच्छृंखलता और दुस्साहस को डैमोक्रैटिक (जनतान्त्रिक) ढंग कहा जा सकता है? ऐसे व्यक्तिगत आचरण को 'अहिंसा' बता कर समाजवाद के समर्थकों को उलटे मार्ग पर जाने के लिये भडकाना समाजवादी आन्दोलन को असफल करने और उसके लिये जनता में घृणा उत्पन्न करने की छलना मात्र ही है।

साधनहीन जनता का विश्वास पाने के लिये गाधी जी यह कहने के लिये तैयार थे कि सब सम्पत्ति प्रजा की है। परन्तु इस सम्पत्ति का उपयोग प्रजा द्वारा, प्रजा के हित मे करने के लिये सामूहिक प्रयत्न की चेष्टा से उन्हे आपत्ति है। प्रजा के हित मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग वे पहले व्यक्तिगत रूप से आरम्भ कराना चाहते हैं। इस सुझाव का व्यवहारिक अर्थ क्या होता है? पैदावार के साधनों के सामाजीकरण की माग साधनहीन श्रेणी की है। साधनहीन श्रेणी

---

* गाधी जी का यह वक्तव्य लखनऊ के 'श्री गाधी खादी भण्डार' में लटका हुआ देखा जा सकता है।

अपनी किस व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्रजा के हित मे अर्पण कर सकती है ? और यदि सामन्त और पूँजीपति श्रेणी व्यक्तिगत रूप से ऐसा करने के लिये तैयार नही है तो इसके लिये सामूहिक चेतना जगाने की चेष्टा करना भी गाधी जी के विचार मे हिसा है। गाधीवाद के अनुसार पैदावार के साधनों के स्वामियों की सम्पत्ति का उपयोग प्रजा हित मे केवल मालिक श्रेणी की कृपा से ही होना चाहिये। अर्थात गाधीवाद का साम्यवाद भी मालिक श्रेणी की कृपा और इच्छा से उस श्रेणी के नेतृत्व मे ही होगा। तभी उसे राजा राम का राज्य कहा जा सकेगा।

यदि कोई आदर्शवादी सामन्त या पूंजीपति केवल व्यक्तिगत रूप से अपनी सम्पत्ति क सामाजीकरण करने की चेष्टा करेगी तो वह भी सफल नहीं हो सकेगा। कोई साधनवान अपनी सम्पत्ति दान कर दे तो इससे सामन्त या पूंजीपति श्रेणी को आपत्ति नहीं होती। परन्तु जब पैदावार के साधनों का सामाजीकरण किया जाता है तो मालिक श्रेणी को अपने अस्तित्व के लिये आशका दिखाई देने लगती है। और वह उसका विरोध करती है। जब सम्पूर्ण समाज एक ढंग से चल रहा है तो वैयक्तिक रूप से उसके विरुद्ध आचरण करने वाला किस प्रकार सफल हो सकता है ? सम्पूर्ण पूंजीवादी समाज सम्मिलित रूप से उसे विफल कर देगा। स्वप्नों के ससार में रहने वाले राबर्ट ओवन जैसे सदाशय लोग ऐसे प्रयत्न कर विफल हो चुके हैं।

"एक भी कौडी जब तक कोई रखेगा तब तक वह समाजवादी नहीं है" समाजवाद की यह कसौटी मार्क्स या किसी भी समाजवादी द्वारा निश्चित की हुई नहीं है। समाजवाद क्या है ? यह समाजवादी ही अधिक अच्छी तरह जानते हैं, गाधीवादियों को यह समझाने की जरूरत नहीं। अपने अव्यवहारिक सिद्धान्तों को समाजवाद या साम्यवाद का नाम देना गाधीवाद का जनता को भ्रम मे डालने का यत्न है। मार्क्सवाद या समाजवाद व्यक्ति के उपयोग की रोटी और लगोटी के समाजीकरण की अव्यवहारिक बात नहीं कहता। समाजवाद व्यक्तिगत उपयोग मे आने वाली वस्तुओं के, जिनसे दूसरों के श्रम का शोषण नहीं होता, सामाजीकरण की बात नहीं कहता। वह केवल पैदावार के ऐसे साधनों के सामाजीकरण की माग करते है जिन्हे समाज के व्यक्ति सामूहिक रूप से चलाते हैं परन्तु पैदावार एक व्यक्ति का

मुनाफा बन कर समाज के उपयोग में नहीं आ पाती। गांधी जी ऐसी विषमता को समाज का अस्वास्थ्य और रोग कहने के लिये तो तैयार हैं, समाज के पैदावार के साधनों पर जनता का अधिकार होने के आदर्श को भी स्वीकार करते हैं परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने के एक मात्र मार्ग, श्रेणीसंघर्ष द्वारा पैदावार के साधनों के सामाजीकरण को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं।

जनता का विश्वास और सहानुभूति पाने के लिये गांधीवाद समाजवाद के लक्ष्य से सहानुभूति तो प्रकट करता है और उस लक्ष्य को पूरा कर देने का दावा भी करता है परन्तु उस लक्ष्य को प्राप्त करने के उपाय श्रेणीसंघर्ष का विरोध करता है। गांधीवाद का आदर्श है कि समाज से शोषण और विषमता तो मिट जायें परन्तु इसके कारण पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और मालिक श्रेणी के मुनाफा कमाने के अधिकार सुरक्षित रहें। गांधीवाद समाजवाद या साम्यवाद की मांग का विरोध करने का तो साहस नहीं कर सकता परन्तु उसकी प्राप्ति के साधन ऐसे बता देना चाहता है कि जनता समाजवाद के स्वप्न तो देखती रहे परंतु उसे प्राप्त करने की चेष्टा कभी न कर सके। गांधीवाद की इसी कूटनीति के अनुसार सर्दार पटेल और पं० नेहरू भी पैदावार के साधनों के सामाजीकरण और श्रेणीरहित समाज की बात कर जनता को सान्त्वना दे उनका समर्थन पाने की चेष्टा तो करते हैं परन्तु उनके प्रत्येक व्यवहार से देश पर पूंजीपति श्रेणी का नियंत्रण कड़ा होने में ही सहायता मिलती है।

आध्यात्मिक साम्यवाद

गांधीवादी और पूंजीवादी विचारधारा के पोषक यह समझ चुके हैं कि यदि वे शोषण का अन्त कर मनुष्य मात्र को जीवन का समान अवसर देने के लक्ष्य अर्थात समाजवाद का खुला विरोध करेंगे तो जनता उनसे विमुख हो जायगी। दूसरे देशों में मार्क्सवादी वैज्ञानिक समाजवाद की सफलता का जो प्रभाव इस देश पर पड़ा है, उससे यह लोग घबरा गये हैं। इसलिये यह लोग भारतीय जनता को उस ओर से भटकाने के लिये प्रकट में समाजवाद के लक्ष्य से सहानुभूति प्रकट कर मार्क्स-वादी समाजवाद के विरुद्ध अनेक भ्रामक प्रचार करते हैं। वे इसे ईश्वर-विरोधी चाण्डाल सभ्यता, भारत की आध्यात्मिक नैतिकता की शत्रु, भौतिक और विदेशी विचारधारा का नाम देते हैं। वे जनता को

देश की गरीबी का उपाय औद्योगीकरण द्वारा पैदावार को बढ़ाना मान चुकी है।

भारत में आज जैसी आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था है हमारा समाज अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को जैसे पैदा कर रहा है या जिस प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध हमारे समाज में दिखाई देते हैं क्या वे सदा से ऐसे ही चले आ रहे हैं ? क्या हम भारत की मौजूदा सामन्तवादी और पूंजीवादी प्रणाली को, जिसे समाजवाद से भय है भारतीय संस्कृति कह सकते हैं ? क्या आज भारत का शासन राजा दुष्यन्त और हरिश्चन्द्र के राज्यकाल की तरह हो रहा है ? क्या हम अपने लिये भोजन वस्त्र आज उसी युग के साधनों से पैदा करते है या अपने रोगों का उपाय उसी प्रकार करते हैं ? क्या हम फिर उस व्यवस्था और उन्हीं उपायों की ओर लौट सकते हैं ? कोई भी देश सदा एक सी संस्कृति में नही रहता। आज से तीन चार सौ वर्ष पूर्व योरूप और अमेरिका में भी औद्योगिक सभ्यता और संस्कृति नही थी। संस्कृति जीवन मे आने वाले भौतिक परिवर्तनों के अनुकूल विकास करती जाती है। भारत मे भी ऐसा ही होता रहा है। यदि देश मे पूंजीवादी व्यवस्था के आ जाने पर भी इस देश के अपने रग-ढंग बने रहे है तो समाजवाद के समय मे भी यह देश अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखेगा बल्कि आज भारत विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों का पिछलग्गू बन कर अपने अस्तित्व की पूर्ण विशेषताओं का विकास नहीं कर सकता। इनका स्वाभाविक विकास भारत के साम्राज्यवादियों के आर्थिक और राजनैतिक नियंत्रण की औपनिवेशिक अवस्था से मुक्ति पा कर ही होगा।

समाजवाद भारत की किन आध्यात्मिक और नैतिक परम्पराओं का विरोध करता है ? यदि भारत की आध्यात्मिकता और नैतिकता कुछ लोगों को वंशक्रम के अधिकार से शेष समाज का शोषण करने का अधिकार देती है तो समाजवाद अवश्य इसका विरोध करता है। पूंजीवादी व्यवस्था राजनैतिक क्षेत्र में स्वयं शासन के वंशानुगत अधिकारों को मान्यता नही देती। हमारे देश में वंश परम्परा से शासन की प्रणाली ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाई हुई रियासतों में भी समाप्त हो चुकी है। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के लिये दावा किया जाता है कि वह मनुष्य मात्र को समान समझती है (जो कि वर्णाश्रम धर्म के व्यव-

हार के विरुद्ध है)। समाजवाद इस सिद्धान्त का विरोध नही करता बल्कि इस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने की माग करता है। क्या भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के अनुसार समाज के सब लोगों को जीवन के लिये अवसर और सुविधायें समान रूप से देना भारत की आध्यात्मिक भावना के विरुद्ध है ? क्या मनुष्य को उसके श्रम का पूरा फल मिल सकना आध्यात्मिक संस्कृति के विरुद्ध है ? या समाज के अधिकांश लोगों के जीवन से साधनहीनता की विवशता दूर कर उन्हे विकास का समान अवसर देना भारतीय नैतिक आदर्श के विरुद्ध है ? समाजवाद की इन मागों मे कौन बात ऐसी विदेशी है जिसे भारतीय नैतिकता स्वीकार नहीं कर सकती ?

मार्क्सवादी समाजवाद की विचारधारा को ईश्वरविरोधी बताने का प्रयोजन जनता मे भ्रम पैदा करना है। मार्क्सवाद का कहना है कि मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान, (जिसमे ईश्वर सम्बन्धी धारणायें भी सम्मिलित है,) मनुष्य की विकासशील परिस्थितियों की उपज है। मार्क्सवाद मनुष्य-समाज के इतिहास और भौतिक तथ्यों के आधार पर अपनी विचारधारा और कार्यक्रम का निश्चय करता है। वह ईश्वर से कोई झगडा नही करता। मार्क्सवाद मनुष्य-समाज के लिये उन्नति और विकास के उसी कार्यक्रम का समर्थन करता है जिसकी आशा मनुष्य-मात्र को समान समझने वाले और मनुष्य-मात्र का भला करने वाले ईश्वर से की जानी चाहिये। समाजवादी शासन (जैसा कि रूस और चीन मे है) विचारों की स्वतंत्रता के नाते सभी लोगों को पूरा अधिकार और अवसर देता कि वे चाहे जिस सम्प्रदाय मे या ईश्वर के जिस रूप मे विश्वास करें और चाहें तो किसी भी सम्प्रदाय या ईश्वर के किसी भी रूप मे विश्वास न करें।*—समाजवाद या कम्युनिज्म का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे विश्वास करता है परन्तु समाजवादी शासन में यह आशा नहीं की जाती कि सभी लोग कम्युनिज्म के दर्शन को तुरत स्वीकार कर लेंगे। यह लोगों के मानसिक विकास और वैज्ञानिक शिक्षा पर निर्भर करता है। समाजवाद किसी सम्प्रदाय के पक्ष में या विरोध में जिहाद नही है। ईश्वर विश्वास से समाजवाद का झगड़ा केवल उस अवस्था में हो सकता है जब

---

* Draft Constitution of U S S R. 1936

ईश्वर की आज्ञा और प्रेरणा के नाम पर कुछ लोगों के लिये शोषण के अवसर और अधिकारों की रक्षा की जाती है या साधनहीनों का दमन करने की चेष्टा की जाती है और साधनहीनों की समानवादी व्यवस्था को ईश्वरीय आज्ञा का विरोध बता कर जनता को भटकाने का यत्न किया जाता है।

समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं बल्कि समाज के सभी लोगों के लिये अधिक से अधिक और समान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता केवल समाजवाद में (समाज के पैदावार के साधनों का सामाजीकरण हो जाने पर) ही सम्भव है। स्वतन्त्रता का अर्थ क्या है ? स्वतन्त्रता का अर्थ है इच्छानुसार जीवन बिताने का अवसर पाना और निर्भय रहना। सामंतवादी और पूंजीवादी समाज में कितने लोगों को इच्छानुसार जीवन निर्वाह का या जीवन की आवश्यकतायें पूरी करने का अवसर है ? कितने लोग भूख या बेकारी की आशंका से निर्भय हैं ? समाज के अधिकांश लोगों की इस पराधीनता का कारण उनकी साधनहीनता है। समाज के अधिकांश व्यक्ति इच्छा और योग्यता होने पर भी केवल साधनहीनता के कारण निजि और सामाजिक जीवन का सुधार करने योग्य शिक्षा नहीं पा सकते। समाज में आवश्यकता पूर्ति के साधन होते हुए भी अपनी आवश्यकतायें पूर्ण नहीं कर सकते और रोगों से रक्षा के साधन होते हुए भी काल कवलित हो जाते हैं। ऐसे सब लोगों को क्या व्यक्तिगत स्वतंत्रता है ? समाज के साधनों पर समाज के सब लोगों का समान और सामूहिक अधिकार होने पर ही वे वास्तविक स्वतन्त्रता पा सकते हैं ? मनुष्य की शक्ति और स्वतन्त्रता उस के साधनों पर निर्भर करती है। जब समाज में कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक साधनवान होंगे तो उनकी यह स्थिति दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण अवश्य करेगी। स्वामी और सेवक कभी भी समान रूप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं पा सकते। सामन्तवादी पूंजीवादी समाज में कुछ लोगों को दूसरे के श्रम का फल हड़प लेने की स्वतन्त्रता का अनिवार्य परिणाम उन लोगों के अपने श्रम का फल पा सकने की स्वतंत्रता का अपहरण है जिन्हें साधनहीन बना दिया गया है। जो लोग पेट भर सकने के लिये दूसरों के मोहताज हैं कभी स्वतन्त्रता अनुभव नहीं कर सकते।

यह कहना कि मार्क्सवादी समाजवाद विचारों की स्वतंत्रता नहीं

देता सबसे बड़ा झूठ है। जब तक मनुष्य को जीवन निर्वाह की स्वतंत्रता न हो विचारों की स्वतंत्रता की कल्पना करना ही सम्भव नहीं। मार्क्सवादी समाजवाद विचारों की स्वतंत्रता का आधार जीवन निर्वाह की स्वतंत्रता देकर विचारों की स्वतंत्रता को सम्भव बना देता है जो कि सामन्तवादी-पूंजीवादी समाज में न कभी थी, न है। आध्यात्मवादी और गांधीवादी विचारधारा सत्य, नैतिकता और न्याय को मनुष्य के निर्णय से परे कर, परम्परागत शाश्वत सत्य बना देते हैं। मनुष्य को जब बदलती परिस्थितियों में भी परम्परागत विचारों के अनुसार ही चलना होगा, मनुष्य समाज को अपने कल्याण के अनुकूल आदर्श और नैतिकता निश्चित करने का अवसर न हो तो उसके विचारों की स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? इसके विपरीत मार्क्सवाद विचारों को समाज के भौतिक जीवन की उपज मानता है। जिसका अर्थ है कि मनुष्य अपने समाज के कल्याण के लिये अपनी नैतिकता और न्याय का रूप निश्चित करने में स्वतन्त्र है। मार्क्सवाद किसी व्यक्ति विशेष के ईश्वर के प्रतिनिधि होने के दावे पर ही उसके विचारों को सत्य मान लेने के लिये तैयार नहीं। मार्क्सवाद के अनुसार विचारों की सचाई की कसौटी समाज के सामूहिक जीवन का अनुभव और समाज का सामूहिक निर्णय ही है। विचारों की स्वतन्त्रता का इससे व्यापक रूप और क्या हो सकता है।

भारतीयता के प्रति भारत के पूँजीवादियों और गांधीवादियों की श्रद्धा और उनका विदेशी विचारधारा और व्यवहार के प्रति क्रोध केवल समाजवादी विचारधारा और समाजवादी आर्थिक प्रणाली को अपना लेने वाले देशों के प्रति ही है। पश्चिम में पनपी हुई पूंजीवादी प्रजातंत्र प्रणाली को भी (जिसके अनुसार आज देश का शासन चल रहा है) भारतीय संस्कृति का अंग कैसे माना जा सकता है? गांधीवाद और कांग्रेसी सरकार को इस प्रणाली से विरोध नहीं क्योंकि यह प्रणाली देश पर पूंजीपति श्रेणी के शासन को दृढ़ बनाती है। राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें पूंजीवादी जनतंत्र तो स्वीकार है परन्तु आर्थिक क्षेत्र में जनतंत्र होना उन्हें भारतीय संस्कृति के विरुद्ध जान पड़ता है। क्योंकि आर्थिक विषमता के रहते राजनैतिक क्षेत्र में जनतंत्र का अर्थ केवल पूंजीवादियों का जनतंत्र ही होता है। पैदावार के साधनों का नियंत्रण और उपयोग समाज के बहुमत से करना ही समाजवाद या पैदावार के साधनों का

सामाजीकरण है। सार्वजनिक कल्याण के इस मार्ग से भारती संस्कृति को क्या विरोध हो सकता है। समाजवाद भारतीय संस्कृति को हटाने का यत्न नहीं पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने का यत्न है। यदि भारतीय समाज को सामन्तवादी व्यवस्था से उत्पन्न अन्तरविरोधों को दूर करने के लिये पूंजीवादी औद्योगिक विकास की शरण लेनी पडी है, यदि हमें जमीन्दारी और जागीरदारी व्यवस्था हटा देना अनैतिक और अन्याय नही जान पडा तो पूंजीवादी व्यवस्था मे आने वाले अन्तरविरोधों को दूर करने के लिये विकास की अगली मंजिल आर्थिक क्षेत्र मे जनतंत्र अर्थात् समाजवाद को भी स्वीकार करना पडेगा। मनुष्य-समाज के इतिहास की उपेक्षा करने के कारण गाधीवाद यह नही समझता कि समाज के बीजों को पूंजीवाद स्वयं ही बो चुका है।

गाधीवाद भारतीय आदर्शों की दुहाई दे मार्क्सवादी समाजवाद का विरोध कर जिस भारतीय अहिसात्मक, आध्यात्मिक साम्यवाद द्वारा समता का आश्वासन देता है, उसकी विशेषता यह है कि वह श्रेणी सघर्ष द्वारा समाज के पैदावार के साधनों का सामाजीकरण करके नहीं बल्कि साधनवान और साधनहीन श्रेणियों की मैत्री से स्थापित होगा। गाधीवादी साम्यवाद मे देश की आर्थिक व्यवस्था मे साधनों के स्वामित्व की विषमता मौजूद रहेगी, पैदावार के साधनों पर साधनवान श्रेणी का परम्परागत स्वामित्व यथावत रहेगा। अलबत्ता उन्हे समाज की सम्पत्ति का स्वामी नही, संरक्षक (ट्रस्टी) पुकारा जायेगा। कहने को पैदावार के साधन समाज अथवा जनता की सम्पत्ति माने जायेंगे परन्तु उसका संचालन और नियंत्रण पूजीपति श्रेणी ही संरक्षक बनकर अपने निर्णय से करेगी। व्यवस्था मे किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना गाधीवाद के अनुसार अशान्ति और विषमता मिट जाने का उपाय यह होगा कि साधनहीन श्रेणी अशान्ति और क्षोभ को ही सुख मानकर मालिक श्रेणी के प्रति प्रेम करने लगेगी। यदि पूंजीपति श्रेणी को समाज के पैदावार के साधनों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिये नहीं, समाज हित के लिये करना है तो उनकी नियुक्ति जनता के निर्णय या निर्वाचन से न होकर वशपरम्परा के अनुसार होने का क्या कारण हो सकता है ? यदि राजनैतिक क्षेत्र मे अपने शासकों का निर्वाचन जनता द्वारा होना नैतिकता, अहिसा और आध्यात्म के विरूद्ध नही है तो पैदावार के साधनों पर जनता का जनतान्त्रिक नियत्रण किस प्रकार

हिंसा और अन्याय हो सकता है ? पैदावार के साधनों का सामाजीकरण गांधीवाद और मालिक श्रेणी को परम्परागत न्याय, अहिंसा और नैतिकता की धारणा के विरुद्ध जान पड़ता है वैसे ही महाराज रघु, अशोक और अकबर को जनता द्वारा देश का शासक चुनने की माग अवश्य ही घोर अनैतिकता और पागलपन मालूम होती। गांधीवादी आध्यात्मवादी साम्यवाद का लक्ष्य समाज के सभी लोगों के लिये जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना और उन्हे उन्नति के लिये अवसर की समता देना नहीं बल्कि उन्हे त्याग द्वारा अपनी आवश्यकतायें कम करके मालिक श्रेणी के नियत्रण मे सन्तुष्ट रखना है। साधनवान श्रेणी को त्याग और साधनहीन श्रेणी का सहायता के उपदेश का अर्थ इस श्रेणी को अपने व्यवहार द्वारा वश मे रखने की सीख देना ही है। आध्यात्मवादी साम्यवाद का यह प्रपच केवल साधनवान श्रेणी के विशेष अधिकारों और अवसर की रक्षा करना ही है।

भारत की गांधीवादी सरकार देश की सभी समस्याओं, बजर भूमि को उपजाऊ बनाने, खेती की उपज बढ़ाने, स्वास्थ्य सुधार, शिक्षा प्रचार, औद्योगीकरण, राष्ट्रीय साधनों के विकास की आयोजना आदि मे सभी जगह अमरीकन सलाहकारों और अमरीकन पूजी पर निर्भर कर रही है। इसे विदेशी प्रभाव नहीं समझा जाता। देश को पूजीवाद की जंजीरों में कस कर ससार की साम्राज्यवादी शक्तियों की व्यवस्था मे भारत को बाध कर अपनी स्थिति सुरक्षित बनाने के लिये तो भारत के पूजीवादियों और गांधीवादियों को कोई आपत्ति नहीं। उन्हे आपत्ति केवल मार्क्सवाद की विचारधारा और रूस तथा चीन की सफलताओं के प्रभाव मे है। यह उन्हे चाण्डाल विदेशी सभ्यता जान पड़ती है। शासक श्रेणी जैसे आध्यात्मिकता को अपने शोषण के अधिकारों की रक्षा का साधन बनाती रही है उसी प्रकार वह राष्ट्रीय भावना को भी विकृत रूप दे कर अपना प्रयोजन सीधा करने मे सकोच नहीं करती। इस काम मे गांधीवाद उनका प्रबल अस्त्र है। वे इस देश की जनता को साम्यवाद देने का वायदा करते है परन्तु गांधीवादी साम्यवाद ! जिसके सहारे श्रेणीसघर्ष को टाल कर पूजीवादी वर्ग के लिये शोषण का अधिकार सुरक्षित रखा जा सके।

मार्क्सवादी श्रेणी संघर्ष

मार्क्सवाद की धारणा है कि समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का विकास श्रेणी संघर्ष द्वारा ही हुआ है। समाज की वर्तमान अवस्था में जो विषमता और अंतरविरोध उत्पन्न हो गये हैं, इनका कारण पैदावार के लिये श्रम करने वाली श्रेणी का शोषण अर्थात् इस श्रेणी का अपने श्रम से उत्पन्न पैदावार का उपयोग न कर सकना है। इस विषमता का उपाय पैदावार के लिये श्रम करने वाली साधनहीन श्रेणी की शोषण से मुक्ति और इस श्रेणी द्वारा स्थापित की गई शोषणहीन व्यवस्था से ही हो सकता है। साधनहीन श्रेणी की मुक्ति और समाज से शोषण और अव्यवस्था दूर करने का उपाय श्रेणीसंघर्ष ही है। गांधीवाद का कहना है कि श्रेणीसंघर्ष समाज के लिये विनाशकारी है। समाज का कल्याण श्रेणियों के सहयोग या श्रेणीमैत्री द्वारा ही हो सकता है। इन दोनों दृष्टिकोणों की तुलनात्मक विवेचना करने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि श्रेणी या वर्ग से क्या अभिप्राय है? इतिहास में श्रेणीसंघर्ष का क्या रूप और कार्य रहा है? समाज की वर्तमान स्थिति में श्रेणीसंघर्ष का क्या अभिप्राय है? और श्रेणी-सहयोग या श्रेणीमैत्री का क्या अभिप्राय है?

दास प्रथा के युग में और सामन्तवादी प्रणाली में समाज के सब लोग एक सी अवस्था में नहीं रहे न पूंजीवादी व्यवस्था में ही सब लोग एक सी अवस्था में दिखाई देते हैं। समाज प्रायः दो भागों में बंटा दिखाई देता है। एक अल्पसंख्यक भाग, जो जीवन निर्वाह के साधनों का मालिक होता है सम्पन्न होता है। और उसे मन चाहे ढंग से रहने का अवसर होता है। यह लोग अपने काम दूसरों से करा सकते हैं। दूसरा बहुसंख्यक भाग परवश होता है। उसे अपने जीवन की आवश्यकतायें

संतोष से पूर्ण करने का अवसर नहीं होता। ऐसे लोग दूसरों की इच्छानुसार काम करने के लिये विवश होते हैं। इस श्रेणी के लोग आपस में एक दूसरे की अपेक्षा कम या बहुत अच्छी या बुरी अवस्था में रहते हुए भी इस दृष्टि से समान हैं कि वे जीविका के साधनों के मालिकों के मोहताज हैं। समाज के यह दो भाग समाज की दो मुख्य श्रेणियां होते हैं। ऐसी अवस्था में समाज की आर्थिक व्यवस्था का नियंत्रण और शासन जीवन निर्वाह के साधनों की मालिक श्रेणी के हाथ में रहता है। और वह दूसरी बहुसंख्यक श्रेणी को अपने निर्णय और विधान के अनुसार रहने के लिये विवश कर सकती है।

समाज की व्यवस्था का प्रयोजन यह होता है कि समाज अपने निर्वाह के लिये उपयोगी पदार्थों को अधिक से अधिक मात्रा में पैदा-कर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। समाज में चाहे जिस प्रकार की व्यवस्था रही हो या हो, समाज अपनी पैदावार की शक्ति बढाने के लिये अपने पैदावार के साधनों में उन्नति या विकास करता रहता है। पैदावार की शक्ति बढाने के लिये पैदावार के साधनों में उन्नति और विकास करने की अनेक अवस्थायें और रूप रहे हैं:—उदाहरणत मनुष्य के स्वयं अपने हाथों जमीन खोदने का ढंग छोड कर पशुओं द्वारा हल चलाने का उपाय निकाल लेना और फिर भूमि को जोतने के लिये ट्रैक्टर बना लेना, या सूत कातने की शक्ति बढ़ाने के लिये तकली की अपेक्षा चर्खे का व्यवहार करना और फिर चर्खे को भाफ और बिजली से चलने वाली सूत कातने की मशीन का रूप दे देना। लोहे-लकडी को हाथ से न काटकर मशीन से काटना, अपने सिर पर या पशु पर बोझ ढोने की अपेक्षा मशीनों से लाखों मन बोझ खींच ले जाना आदि।

समाज के पैदावार के साधनों का विकास हो जाने पर समाज में पैदावार की शक्ति तो बढती है परन्तु इस बढ़ी हुई पैदावार का भाग सभी लोगों को समान रूप से नहीं मिलता। समाज की बढ़ी हुई पैदा-वार की शक्ति का अधिकांश भाग पूरे समाज के लिये आवश्यक पदार्थ बनाने के लिये खर्च न होकर साधनों की मालिक श्रेणी के लिये ऐश्वर्य या भोग के पदार्थ तैयार करने में या उनको शासन कर सकने की शक्ति बढ़ा सकने में लगने लगता है। जैसे सामन्त कालीन व्यवस्था के युग में मकान बनाने की कला का खूब विकास हो जाने पर सभी लोगों के लिये रहने लायक मकान बनाने का यत्न न

किया जाकर, अधिकांश लोगों को बेघर बनाये रखकर, साधनों के मालिकों के लिये बड़े-बड़े प्रासाद तैयार किये जाते रहे। पूंजीवादी समाज में भी पैदावार की बढ़ी हुई शक्ति समाज की आवश्यकता पूर्ति मे व्यय न होकर पूंजी को बढ़ाने में अथवा पूंजीपतियों का मुनाफा बढ़ाते जाने में ही व्यय की जाती है।

समाज में पैदावार के साधनों का विकास हो जाने पर या पैदावार की शक्ति बढ़ जाने पर भी पैदावार के साधनों की मालिक श्रेणी समाज की इस शक्ति का उपयोग इस प्रकार नही करती कि साधनहीन श्रेणी की भी सभी आवश्यकतायें पूरी हो सकें अथवा साधनहीन श्रेणी भी साधनवान बनने का अवसर पाने लगे। इसका सीधासादा कारण यह है कि साधनहीनों के मोहताजी और परवशता की अवस्था में न रहने पर साधनहीन लोग श्रेणी रूप से साधनवान श्रेणी के वश मे न रहेगे। समाज की व्यवस्था पर अल्पसंख्यक साधनवान श्रेणी का शासन और नियन्त्रण बनाये रखने के लिये समाज के बहुत बड़े अंश का साधनहीन और परवश बनाये रखना आवश्यक है। इसीलिये साधनवान श्रेणी की स्वार्थ या आत्मरक्षा की प्रकृति समाज मे पैदावार की शक्ति होने पर भी समाज की आवश्यकताओं को पूरा नहीं होने देती और समाज के भावी विकास के मार्ग में भी अड़चन बन जाती है। साधनवान या मालिक श्रेणी की इस नीति से समाज के लिये सब कुछ उत्पन्न करने वाली बहुसंख्यक श्रेणी का जीवन दूभर हो जाता है। समाज के विशाल भाग के अपने श्रम से उत्पन्न पदार्थों को खपा न पाने के कारण साधनवान श्रेणी के लिये मुनाफे का अवसर नहीं रहता। इसलिये यह श्रेणी पैदावार को कम करने लगती है। इस प्रकार साधनवान श्रेणी और सम्पूर्ण समाज आर्थिक संकट में फंस जाता है। सम्पूर्ण समाज के सामूहिक हित और कल्याण की दृष्टि से साधनवान श्रेणी की नीति आत्महत्या की नीति बन जाती है।

जैसे समाज की शासक श्रेणी अपने स्वार्थ या आत्मरक्षा के लिये समाज में कायम व्यवस्था की रक्षा करना चाहती है वैसे ही समाज का बहुसंख्यक साधनहीन अंग भी आत्मरक्षा के लिये प्रयत्न करता है। साधनहीन श्रेणी के आत्मरक्षा के प्रयत्न का रूप यह होता है कि समाज में पैदावार के साधनों और उनके श्रम द्वारा उत्पन्न पदार्थों या धन का जितना भाग उन्हे मिल रहा है, उससे उनका जीवन निर्वाह नहीं

हो सकता अत उन्हें और अधिक भाग मिले। साधनहीन श्रेणी की यह मांग मजदूरी बढ़ाई जाने या श्रम का बोझ कम किये जाने की मांगों के रूप में उठती है। सामन्तवादी या पूंजीवादी समाज की व्यवस्था के अनुसार समाज में पैदावार का नियन्त्रण और पैदावार के बटवारे का नियन्त्रण साधनों की मालिक श्रेणी के निर्णय और इच्छा से ही होता है। इसलिये ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार साधन हीन श्रेणी की मांगें कानून या विधान के विरुद्ध जान पडती हैं। साधनवान और साधनहीन श्रेणियों की आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या साधनहीन श्रेणी की जीवन रक्षा की मांगों के कारण साधन वान श्रेणी से संघर्ष होने पर सामन्तवादी और पूंजीपति समाजों की सरकारें साधनवान श्रेणी के अधिकारों की रक्षा के लिये अपनी विधान और शस्त्रों की शक्ति का उपयोग करती हैं। साधनहीन श्रेणी समाज की व्यवस्था को अपने शोषण में सहायक देख ऐसे विधान के परिवर्तन या क्रान्ति के लिये यत्न करने लगती है। समाज की दोनों श्रेणियों के आत्मरक्षा के प्रयत्न में विरोध होने से उनमें द्वन्द्व या संघर्ष होता है। श्रेणियों का यह संघर्ष न केवल साधनहीन श्रेणी के लिये जीवन रक्षा के अवसर की मांग है बल्कि सम्पूर्ण समाज के विकास के मार्ग में आगई अड़चनों को दूर करने का स्वाभाविक और ऐतिहासिक प्रयत्न भी है।

मार्क्सवाद की धारणा है कि समाज के पैदावार के साधनों का विकास हो जाने पर पदार्थों को पैदा करने की शक्ति बढ़ जाती है। समाज की बढ़ी हुई पैदावार की शक्ति का उपयोग हो सकने के लिये पैदावार के काम में सहयोग देने के समाज में पुराने चले आये सम्बंधों में और पैदावार के बंटवारे की व्यवस्था में भी परिवर्तन और विकास की आवश्यकता होती है। इन्हीं परिवर्तनों के लिये श्रेणी संघर्ष होता है। समाज श्रेणी संघर्ष द्वारा ही एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में पहुंचता है। श्रेणी संघर्ष समाज के विकास की प्रक्रिया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मार्क्सवाद ने ही श्रेणी संघर्ष समाज को जन्म दिया है। श्रेणी संघर्ष समाज के अतीत में रहा है और आज भी वर्तमान है। मार्क्सवाद ने केवल उस सत्य की ओर ध्यान भर दिलाया है। किसी व्यक्ति के शरीर में वर्तमान रोग की ओर ध्यान दिलाने वाले वैद्य पर रोग उत्पन्न करने का दोष नहीं

लगाया जा सकता। रोग शरीर में मौजूद रहता है वैद्य केवल उसकी ओर ध्यान दिला देता है और रोग को दूर करने का उपाय बताता है। इसी प्रकार मार्क्सवाद श्रेणी संघर्ष को उत्पन्न नहीं करता, केवल समाज मे वर्तमान श्रेणी सघर्ष की ओर ध्यान दिलाता है और भविष्य मे श्रेणी सघर्ष से मुक्ति का उपाय भी बताता है।

श्रेणी संघर्ष के बीज समाज में दो या अधिक श्रेणियां होने मे और इन श्रेणियों के हित और स्वार्थ परस्पर विरोधी होने में हैं। श्रेणी सघर्ष से मुक्ति का उपाय समाज मे दो श्रेणियों का न रहना अथवा समाज का श्रेणीहीन-क्लासलेस सोसायटी बन जाना है। समाज मे दो श्रेणियों के न रहने, या समाज के श्रेणीहीन होने का अभिप्राय समाज में मौजूद साधनवान या साधनहीन श्रेणियों की हत्या कर देना नहीं है। इसका अभिप्राय उन कारणों या समाज की उस आर्थिक व्यवस्था को बदल देना है जिसके कारण साधनवान श्रेणी और साधनहीन श्रेणी के हितों या स्वार्थों मे परस्पर विरोध हो जाता है। समाज मे उपयोगी पदार्थों की पैदावार साधनवानों के साधनों और साधनहीनों के श्रम के सहयोग से होती है। पैदावार के बटवारे मे अल्पसंख्यक साधनवान सम्पूर्ण पैदावार को अपनी सम्पत्ति मान कर इस पैदावार का केवल बहुत थोड़ा सा भाग श्रम करने वाली बहुसख्यक श्रेणी को देते है जिससे उनका जीवन निर्वाह भी कठिनाई से हो सकता है। श्रम करने वाली श्रेणी अपना जीवन मनुष्योचित ढंग से निवाह पाने के लिये पैदावार के बटवारे मे अपने श्रम के फल के कुछ अधिक अंश के लिये सघर्ष करती है और मालिक श्रेणी इस भाग को न बढाने के लिये सघर्ष करती है। संघर्ष का कारण मालिक श्रेणी की शोषण की नीति ही है।

मार्क्सवाद श्रेणी संघर्ष को समाज के विकास का ऐतिहासिक मार्ग मानता है और श्रेणी सघर्ष को समाप्त भी कर देना चाहता है। यह दो बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती है परन्तु वास्तव मे यह परस्पर विरोधी नहीं है। इतिहास बताता है कि मनुष्य समाज के इतिहास मे पैदावार के साधन और ढंग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ऐसे रहे हैं कि समाज के कुछ लोग इन साधनों के मालिक बन जाते थे और कुछ अपने शरीर की शक्ति से ही पैदावार मे सहयोग देते थे। पैदावार के साधन सीमित रहने पर सभी लोग समान रूप से साधनों के स्वामी नहीं बन

सकते थे। पैदावार के साधनों मे विकास हो जाने और उनका रूप बदल जाने पर पैदावार के नये विकसित साधन जिन लोगों के हाथ में हो जाते थे, वही की श्रेणी समाज की शासक और व्यवस्थापक बन जाती थी। समाज व्यवस्था मे एक श्रेणी के हाथ दूसरी श्रेणी के हाथ में जाने या परिवर्तन का उपाय श्रेणी संघर्ष द्वारा होता रहा है। उत्तरोत्तर विकास का यह क्रम अब ऐसी व्यवस्था मे पहुँच गया है कि पैदावार के साधनों को आवश्यकतानुसार निस्सीम बढ़ाया जा सकता है। इसलिये समाज का भावी विकास समाज मे श्रेणियों का परस्पर विरोध अर्थात पैदावार के साधनों और उपयोगी पदार्थों की पैदावार को बढाने के मार्ग की अडचनें दूर कर देने से ही सम्भव हो सकता है। मार्क्सवाद के इस कथन की सचाई का सबसे बडा प्रमाण स्वयं इतिहास है।

दास प्रथा के समय समाज में श्रेणियों के रूप और उनके परस्पर सम्बन्ध कैसे थे ? उस युग में पैदावार के मुख्य साधन भूमि और मनुष्य के शरीर की शक्ति ही थे। इसलिए भूमि के बडे-बडे स्वामी और वह लोग जिनके पास दासों के बडे-बडे दल थे, पैदावार के साधनों के मालिक होने के कारण समाज का शासन करते थे। इसी श्रेणी के लोग समाज के लिए व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों, और राज्य के प्रति व्यक्तियों के कर्तव्यों को निश्चित करने वाले नियमों और न्याय की धारणाओं का निश्चय करते थे। तत्कालीन नैतिकता और न्याय के अनुसार सैकडों व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की निजी सम्पत्ति माने जाते थे। ऐसे सैकडों व्यक्तियों के परिश्रम के फल पर, इन व्यक्तियों के शरीरों और इन व्यक्तियों की सन्तान पर भी मालिक को पूरा अधिकार होता था। मालिक अपने दासों को अपनी इच्छानुसार जीवित रख या मार डाल सकते थे और इनकी सन्तान को बेच दे सकते थे। अनेक व्यक्ति उस युग मे दासों को उत्पन्न करने और बेचने का ही कारोबार करते थे जैसे आज पशुओं की नसल बढा कर उन्हे बेचने का कारोबार किया जाता है। आज के सभ्य समाज को ऐसे नियम और न्याय असमानवीय और असह्य जान पडते हैं परन्तु तत्कालीन निस्वार्थ, त्यागी विद्वानों को भी ऐसे नियम और न्याय समाज की रक्षा और विकास के लिए आवश्यक जान पडते थे। भगवान मनु ने ऐसी ही सामाजिक परिस्थिति मे शूद्रों और दासों को स्वामी के लिए अपना

जीवन अर्पण कर देना ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग बताया था और यूनान के महाऋषि सुकरात, जिन्होंने सत्य की रक्षा के लिए, अपने हाथों विष पान करने मे भी संकोच नहीं किया, दास प्रथा को समाज के कल्याण और विकास के लिए आवश्यक बताया था।

इसमें सन्देह नही कि दास प्रथा से पूर्व मनुष्य समाज की जैसी अवस्था थी, उसकी अपेक्षा दास प्रथा विकास और सामाजिक कल्याण की ही व्यवस्था थी। दास प्रथा का आरम्भ मनुष्य समाज की आदिम अवस्था में भूमि के टुकड़ों, पशुओं और जंगलों पर अधिकार करने के लिए भिन्न भिन्न कुनबों और कबीलों में होने वाले युद्धों मे हुआ। दास प्रथा से पहले इन युद्धों मे पराजित होने वाले लोगों को मार कर खा लिया जाता था। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों की कुछ अब तक भी असभ्य और जगली जातियों मे आज भी वही क्रम जारी है। परन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि हारे हुए शत्रु को एक दिन का भोजन बना लेने की अपेक्षा उससे नित्य भोजन प्राप्त करने के लिए श्रम कराते रहना अधिक उपयोगी है तो उसने हारे हुए शत्रुओं या अपने मे निर्बल व्यक्तियों को दास बना कर अपने लाभ के लिए श्रम कराने की कला सीख ली। युद्ध जीतने वालों के लिये हारे हुए शत्रु पैदावार के साधन बन गये। समाज मे पैदावार का एक नया साधन आ जाने से उस समय के परस्पर युद्धरत समाज का रूप बदल गया।

समाज में दासों के रूप में पैदावार के साधन के विकास ने पराजित शत्रुओं, या निर्बल लोगों को भी जीवित रहने का अवसर दिया और दासों के मालिकों के लिये जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने के साधन (दास) देकर उन्हे स्वय विश्राम तथा सोचने और विचारने का अवसर दिया। अब मालिक श्रेणी के सामने किसी न किसी प्रकार जीवनरक्षा की ही समस्या नही थी बल्कि जीवन को समृद्ध, सम्पन्न, सुन्दर बनाने का प्रश्न था। इतिहास बताता है कि इसी युग मे मनुष्य ने सगीत, काव्य, चित्रकला, मूर्ति कला, स्थापत्य कला और तर्कशास्त्र का विकास कर जीवन क सूक्ष्म पहलुओं आध्यात्म आदि का भी विकास किया।

दासों के रूप में समाज की पैदावार की शक्ति की उन्नति ने समाज को विकास का अवसर तो दिया है परन्तु साथ ही, जब ऐसी

व्यवस्था में जितना विकास हो सकता था हो चुका तो अन्तर विरोध भी उत्पन्न कर दिये। यह अन्तर विरोध समाज की बढ़ी हुई पैदावार की शक्ति को सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए व्यवहार में न लाये जा सकने के रूप में थे। उदाहरत छोटे-मोटे यन्त्रों का आविष्कार हो जाने के कारण थोड़े से दासों से ही अधिक पैदावार कर सकने की सुविधा हो जाना। दासों का सख्या बढ़ जाने पर मालिकों के पास उनसे कराने के लिए काम न होना। दास स्वामी अपने दासों को लेकर प्राय नगरों में ही रहते थे दासों को अपने स्वामियों के अतिरिक्त दूसरों के लिये श्रम करने का अवसर न था। समाज की बड़ी हुई जन सख्या के लिए जो लोग नगरों से बाहिर बड़े परिमाण में खेती करना चाहते थे उन लोगों को खेती पर श्रम करने के लिए मजदूर या आदमी न मिलना। ऐसी अवस्था में समाज मे पैदावार की शक्ति होने पर भी उसे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के काम में न लाया जा रहा था। समाज का अधिकाश भाग आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से व्याकुल हो रहा था। असन्ताप और अशान्ति अनुभव होने लगी जो लोग स्वय दासस्वामी नहीं थे, या उनके पास दासों की पर्याप्त सख्या नही थी और नगरों के बाहिर अन्न और पशु आदि की पैदावार करना चाहते थे इस बात की माग आरम्भ की कि साधनहीन मनुष्यों (दासों) को अपने निर्वाह के लिए स्वतन्त्र रूप से श्रम कर लेने का अवसर होना चाहिए। दास मालिकों की श्रेणी ने अपनी व्यवस्था बनाये रखने का पूरा आग्रह किया परन्तु उस व्यवस्था में समाज का निर्वाह ही नहीं हो सकता था इसलिए समाज में क्रान्ति हो गई, समाज की व्यवस्था बदल गइ। इस क्रान्ति का कारण दास स्वामियों की श्रेणी तथा समाज की अन्य श्रेणियों मे स्वार्थों का सघर्ष था या समाज के निर्वाह और विकास के मार्ग में आ जाने वाली अड़चनों को दूर करने की माग थी।

दास प्रथा का अन्त हो जाने पर समाज मे दूसरे प्रकार की आर्थिक प्रणाली, जिसकी कि माग दास प्रथा के युग में समाज के अधिकाश लोग कर रहे थे आरम्भ हुई। इस प्रणाली के अनुसार दासों को अपने स्वामियों के बन्धन से मुक्ति मिल गई। जो दास दस्तकारी जानते थे, हाथ से उपयोग में आने वाले औजारों से उपयोगी वस्तुएँ बना कर उनके बदले में भोजन वस्त्र पाने लगे। अधिकाश दास लोग नगरों में

बाहिर बड़े-बड़े भूमिपतियों की भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों पर जा बसे जहाँ वे पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे। उन्हे नगरों की तरह हर समय चौकसी मे न रहना पड़ता। भूमिपति या सामन्त इन लोगों को न मार सकते थे न वेच सकते थे। सामन्त केवल इन लोगों से पैदावार का एक भाग ले सकते थे या अपनी आवश्यकता के लिए उनसे शारीरिक श्रम करा सकते थे। सामन्त लोग जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ बनाने वाले कारीगरों को भी भूमि का एक टुकड़ा निर्वाह के लिए देकर उनसे कपड़ा, जूता या वर्तन आदि वस्तुएँ आवश्यकता अनुसार बनवाते रहते थे। सामन्त रैयत का शोपण केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही करते थे। व्यापार का विकास होने के कारण और पूजी द्वारा पैदावार की सम्भावना न होने के कारण असीम पूजी बटोरने की प्रवृत्ति न थी। इस युग मे कारीगर जिन औजारों से उपयोगी पदार्थ बनाते थे वह कारीगरों की व्यक्तिगत सम्पति होते। कारीगर या पदार्थों को उत्पन्न करने वाले लोग अपने श्रम का फल या परिणाम आवश्यक पदार्थों के बदले देते लेते थे। वे अपने श्रम की शक्ति नही बेचते थे। ऐसी अवस्था मे पैदावार का सबसे बड़ा साधन भूमि ही थी इसलिए भूमि के मालिकों या सामन्तों का ही उस समाज पर शासन था। सामन्तकाल में पैदावार के साधन पहले की अपेक्षा और अधिक उन्नत हुए। प्रत्येक कारीगर या श्रम करने वाले का यह स्वभाविक प्रयत्न था कि वह अपने श्रम का अधिक से अधिक फल पा सके। परिणाम मे समाज की पैदावार की शक्ति और बढ़ी। कलाओं के ज्ञान का भी विकास हुआ। इस युग मे न्याय और नैतिकता की धारणाएँ सामन्त श्रेणी के निर्णय के अनुसार बनाई गई। पैदावार के काम दास और स्वामी के सम्बन्ध के स्थान पर राजा और रैय्यत के सम्बन्ध बन गए।

सामन्तकाल मे समाज के पैदावार के साधनों मे उन्नति होने से जितना विकास हो सकता था, उतना हो चुकने पर सामन्तवादी व्यवस्था भी समाज के भावी विकास मे या सार्वजनिक कल्याण के मार्ग मे बाधा बनने लगी। सामन्तकाल मे जीवन निर्वाह की साधनों की मुख्य स्वामी सामन्त श्रेणी ही थी इसलिये वही लोग आवश्यक वस्तुओं की पैदावार और बटवारे का नियन्त्रण और व्यवस्था करते थे। इस समय तक पदार्थ प्रधानत उपयोग के लिये ही बनाये जाते थे

बिक्री या व्यापार के लिये नहीं। परन्तु अब समाज की पैदावार की शक्ति बढ़ जाने पर पदार्थ अधिक संख्या और परिमाण में बनने लगे और उनका व्यापार सम्भव हो गया। इसके साथ ही समाज में एक ऐसी श्रेणी (व्यापारी वर्ग) पैदा हो गई जो इन पदार्थों के विनिमय द्वारा लाभ उठा कर अपना निर्वाह कर सकती थी।

सामन्त श्रेणी समाज में पैदावार और पदार्थों के बनाये जाने की व्यवस्था का संचालन केवल अपने और अपने आश्रितों के लिये इन चीजों के उपयोग की दृष्टि से करती थी। जो छोटा मोटा व्यापार उस अवस्था में आरम्भ हुआ सामन्त श्रेणी उसके मार्ग में भी बाधा डालती थी। सामन्त अपनी जागीर में उत्पन्न हुए या बने पदार्थों के बाहर जाने पर कर लेते थे और दूसरे सामन्त की भूमि में उत्पन्न पदार्थों के अपनी सीमा में लाये जाने पर भी कर लेते थे। अपने अधिकार और सुविधा की दृष्टि से इस श्रेणी के न्याय के अनुसार एक सामन्त की भूमि पर बसी हुई प्रजा या रैय्यत न केवल अपनी भूमि छोड़कर नहीं जा सकती थी बल्कि अपना धन्धा भी सामन्त की अनुमति बिना नहीं बदल सकती थी और अपने श्रम की पैदावार अपने सामन्त स्वामी के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ नहीं बेच सकती थी।

इसी काल की आर्थिक व्यवस्था के धार्मिक रूप का नाम वर्णाश्रम धर्म था। सामन्तवादी व्यवस्था समाज के विकास में रुकावट बन रही थी। समय आया कि नगरों में व्यापारी वर्ग को पदार्थों को अधिक संख्या और परिमाण में बनाने के लिये ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होने लगी जो अपने बनाये पदार्थ उन्हें स्वतंत्रता से बेच सकें। सामन्तों की भूमि पर बसी रैय्यत भी नगरों में जाकर अधिक सन्तुष्ट जीवन बिता सकने के लिये उनकी भूमि से छुटकारा चाहने लगी या किसान एक सामन्त की अपेक्षा दूसरे सामन्त की भूमि में अधिक सुविधा से काम करने की स्वतंत्रता मांगने लगे। सामन्तवादी व्यवस्था समाज के बहुसंख्यक लोगों या सामन्त श्रेणी के अतिरिक्त दूसरी श्रेणियों को अन्यायपूर्ण जान पड़ने लगी। सामन्त श्रेणी और समाज की दूसरी श्रेणियों में व्यवस्था के परिवर्तन के लिये संघर्ष शुरू हो गया। इस संघर्ष में व्यापारी श्रेणी और मध्यम वर्ग समाज को अधिक विकासशील मार्ग की ओर ले जा सकते थे। इसलिये संघर्ष में उनकी ही विजय हुई। सामन्तवादी आर्थिक

व्यवस्था के बदलने के साथ ही व्यापार की सीमाओं को तोडने के लिये या फैलाने के लिये छोटे-छोटे राज्यों की राजनैतिक प्रणाली ने भी बदल कर बडे बड़े राज्यों या साम्राज्यों का रूप ले लिया जिसमे महाराज सम्राट रैय्यत और व्यापारी वर्ग को सामन्तों की उच्छृखंलता से बचा सकते थे। समाज क्रान्ति द्वारा विकास की एक नयी व्यवस्था मे पहुँच गया। इस क्रान्ति का नेतृत्व सामन्तवाद विरोधी व्यापारी वर्ग ने अन्य साधनहीन श्रेणियों की सहायता से किया। इस परिवर्तन और विकास का बीज समाज के पैदावार के साधनों मे विकास और परिवर्तन मे था। इस परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया सामन्तवादी श्रेणी के सचालन, नियन्त्रण और शासन से मुक्ति के लिए उस समय की शोषित श्रेणियों के सघर्ष द्वारा ही हुई।

सामन्तवादी शासन मे समाज का जितना विकास सम्भव था वह हो चुकने पर जो अन्तरविरोध समाज की व्यवस्था में पैदा हो गए उन्हे तत्कालीन मध्यम वर्ग की क्रान्ति ने दूर कर समाज में एक नई व्यवस्था और समन्वय स्थापित हुआ। इस नई परिस्थिति की विशेषता पदार्थों को व्यापार के लिए अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकने की स्वतन्त्रता थी। पदार्थों की पैदावार बढा कर लाभ उठा सकने के अवसर ने पैदावार के साधनों में उन्नति और विकास के लिए और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। पैदावार के औजारों को यन्त्रों का रूप दे उन्हे पशुओं या जल की शक्ति से चलाने का यत्न किया गया। इसी प्रयत्न ने उत्तरोत्तर विकास से भाफ की शक्ति से चलने वाले कल कारखानों का रूप ले लिया। व्यापार के लिए पैदावार को बहुत बडे परिमाण में बढ़ाये जा सकने का अवसर आ गया इसलिए श्रम विभाजन के आधुनिक रूप का विकास हुआ। जो सामन्तकाल के श्रम विभाजन (वर्णाश्रम धर्म) से भिन्न था। इस परिवर्तन से पैदावार के साधनों मे भूमि के स्थान पर यन्त्रों को प्रधानता मिलने लगी। धन का सचय भूमिपतियों और सामन्तों की अपेक्षा बडे-बड़े व्यापारियों और व्यवसायियों के हाथ मे होने लगा। सामन्तों और भूमिपतियों का महत्व घट कर व्यापारियों और पूजीपतियों का महत्व बढ गया। यहाँ तक कि महाराजाओं और सम्राटों को भी कभी अपने भोग विलास के लिए और कभी दूसरे राजाओं सम्राटों से युद्ध आदि के लिए इन व्यापरियों और पूजीपतियों के सामने हाथ फैलाने की विवशता होने लगी। समाज के निर्वाह का साधन पूजीपति और

व्यापारी वर्ग के हाथ में आ जाने से वे लोग समाज के शासन में भी दखल देने लगे।

पूंजीपति वर्ग और उनके नेतृत्व में जमी नयी व्यवस्था में उन्नति करते समाज को राजाओं और सामन्त श्रेणी का शासन असह्य जान पड़ने लगा। पैदावार के साधनों में हुई अपूर्व उन्नति से पूरा लाभ उठाने के लिए, पुरानी आर्थिक अवस्था के आधार पर बनी सामन्तवादी और राजसत्तात्मक शासन व्यवस्था से पग पग पर संघर्ष होने लगा। परिवर्तन या क्रान्ति अनिवार्य हो गई। अपनी श्रेणी के हाथ में शासन की शक्ति को ईश्वरीय न्याय मान कर उस पर आग्रह करने वाले राजाओं के सिर कटने लगे। शासन का अधिकार राजाओं और सामन्तों के हाथ से साधनवान प्रजा के हाथ में आ गया। इस क्रान्ति के परिणाम को हम आज प्रजातन्त्र और जनतन्त्र के रूप में देख रहे हैं। आज हमें प्रजातन्त्र शासन प्रणाली मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार जान पड़ती है परन्तु यह केवल व्यापारी, पूंजीपति और मध्यम श्रेणी के राजसत्तात्मक व्यवस्था की पोषक श्रेणी के विरुद्ध संघर्ष में विजय का ही परिणाम है। इस संघर्ष के अन्तिम उदाहरण हमारे देश में अभी चार वर्ष पूर्व ही, रियासतों के शेष भारत में विलीन होते समय देखे गये हैं।

राजसत्तात्मक व्यवस्था समाप्त हो जाने पर जैसी आर्थिक व्यवस्था समाज में स्थापित हुई उसमें भी पैदावार के साधनों के विकास का क्रम निरन्तर जारी रहा। पैदावार के साधनों और परिस्थितियों को विकास का पूरा अवसर देने के लिए इस समय की शासक पूंजीपति श्रेणी ने नये नैतिक सिद्धान्त बनाये :—प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन निर्वाह के लिए व्यवसाय चुन लेने की स्वतन्त्रता है, प्रत्येक व्यक्ति को व्यापार से यथेष्ट लाभ कमाने की स्वतन्त्रता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपना श्रम बेच सकने की स्वतन्त्रता है। पूंजीवादी समाज की ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर इस काल की आदर्श प्रजातन्त्र प्रणाली की नींव पड़ी। नयी व्यवस्था और पैदावार के यान्त्रिक साधनों के विकास ने शनै शनै हमारे समाज को वर्तमान रूप दे दिया जिसमें व्यवसायिक और व्यापारिक होड़ की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने पैदावार के साधनों का आकार इतना बढ़ा दिया है कि श्रम करने वाले साधारण व्यक्ति पैदावार के साधनों का स्वामी नहीं हो सकता। अनेक श्रम करने वाले व्यक्तियों को किसी एक ही साधनों के मालिक के हाथ में अपनी

श्रम शक्ति बेचनी पडती है। साधनों के मालिक श्रमिकों से मन चाहा श्रम कराकर, उन्नत साधनों द्वारा बहुत अधिक पदार्थ तैय्यार कराते है। श्रमिकों को केवल कठिनता से निर्वाह मात्र के लिये दाम दे दिया जाता है। पैदावार के साधन जितने बडे होते हैं, पदार्थ जितने अधिक परिमाण मे बनाये जाते हैं उतने ही सस्ते बन सकते हैं। जब धन का रूप उपयोगी पदार्थ अर्थात कपड़ा, अन्न और पशु होते थे उसे एक सीमा तक ही सचित किया जा सकता था। जब धन ने चादी, सोने के सिक्कों का रूप लिया तो उसे अधिक मात्रा मे सचित किया जा सकने लगा। परन्तु पूंजीवादी समाज मे धन ने बैंको में हिसाब या नोटों का रूप ले लिया है और उसके संचय की कोई सीमा नही रही। पूंजी-वादी समाज की विकसित अवस्था में पूजी बिना किसी असुविधा के पदार्थों या पैदावार के साधनों का रूप ले सकती है। इसलिये पूजी ही सबसे बडी शक्ति बन गई है और मनुष्य अपनी पूंजी के अनुपात में शक्तिशाली होता है। पूंजी की शक्ति को बढाने का उपाय पूजी से और अधिक मुनाफा कमाना है। यह मुनाफा ही और पूंजी बन जाता है। ऐसी अवस्था में समाज की पैदावार की शक्ति का नियत्रण करने वाला पूंजीपति अपनी पूजी या पैदावार की शक्ति का उपयोग समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नही बल्कि अपनी पूंजी को बढाने के लिये ही करता है।

बाजार मे होड़ के कारण अपने शारीरिक श्रम या एकाध यत्र से पदावार करने वालों की तो बात ही क्या, बड़े व्यवसायी के सन्मुख छोटे व्यवसायी भी नहीं टिक पाते। छोटे व्यवसायी बाजार की होड़ मे अपना व्यवसाय लाभदायक न देख बडे व्यवसाइयों के कारोबार मे नौकरिया ढूढ लेते हैं या दलाली करने लगते हैं। इस प्रकार कुछ आदमियों के हाथ में तो धन के रूप में पैदावार के साधन कल्पनातीत रूप में बढ गये हैं और दूसरी ओर समाज में बहुत बडी श्रेणी ऐसे लोगों की पैदा हो गई है जो बिल्कुल साधनहीन हैं। समाज का धन या पूंजी पूंजीपतियों और श्रमिकों के सहयोग से पैदा होती है परन्तु इसका बटवारा इस प्रकार हुआ है कि वह कुछ पूंजीपतियों के हाथ मे सिमिट जाती हैं।

साधनहीन श्रेणी के पास निर्वाह का उपाय केवल अपने शरीर या मस्तिष्क की श्रम शक्ति को बेच सकना ही है। इन लोगों के साधन-

हीन होने के कारण जीवन निर्वाह की प्रत्येक वस्तु और अवसर के लिये इन्हें साधनों के मालिक पूंजीपतियों का मोहताज होना पडता है। अपनी श्रम शक्ति या साधनहीनों की श्रम शक्ति का मूल्य निश्चय करने का अवसर भी पूंजीपतियों के ही हाथ में रहता है। साधनहीन श्रेणी की शक्ति केवल उनके सामूहिक प्रयत्न या संगठन में है। साधनवान व्यक्तियों और साधनहीन व्यक्तियों की व्यक्तिगत शक्ति की तुलना बहुत निराशाजनक है। उदाहरणत —पेट की रोटी के लिए अपने शरीर की शक्ति बेचने के लिए उत्सुक एक मजदूर को अपने अधिकारों के लिए ऐसे पूंजीपति का सामना करना पडता है जो अपने व्यवसाय में चालीस या पचास हजार, मजदूरों को काम में लगाता है तो उस मजदूर और पूंजीपति की शक्ति का अनुपात एक और चालीस या पचास हजार का ही होगा। यदि मजदूर को एक साधारण व्यक्ति माना जाय तो पूंजीपति की शक्ति उस जैसे चालीस या पचास हजार व्यक्तियों के बराबर होगी। इसके अतिरिक्त पूंजीपति लोग मजदूरों के श्रम का मूल्य निश्चय करने में अथवा उनके प्रति व्यवहार में, श्रेणी रूप से एकसी ही नीति या नियमों का व्यवहार करते हैं। व्यक्तिगत रूप से मजदूर की शक्ति नगण्य होने पर भी वह श्रम की शक्ति का स्रोत है जिसके बिना पूंजी या पैदावार के साधन निष्क्रिय हो जाते हैं। एक मजदूर की श्रम शक्ति की तो पूंजीपतिवर्ग परवाह नहीं करता परन्तु सम्पूर्ण समाज की श्रम शक्ति जब संगठित होकर एक ओर हो जाती है तो उसकी शक्ति समाज की पूंजी या पूंजीपतिवर्ग की शक्ति से भी बढ़ जाती है। क्योंकि यह श्रम शक्ति ही पूंजी को बनाने वाली है। समाज की सामूहिक श्रम शक्ति का चलता फिरता रूप ही मजदूर श्रेणी है।

जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्व दास प्रथा, सामन्तवाद और राजसत्तात्मक व्यवस्थाओं में एक सीमा तक समाज का विकास हो जाने पर उसमे अन्तरविरोध पैदा होते रहे और समाज का भावी विकास असम्भव हो जाता था, समाज में उत्पादक शक्ति होते हुए भी उस शक्ति का उपयोग समाज की बहु संख्या के लिये न हो पाता था उसी प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में भी एक सीमा तक विकास हो जाने पर भयंकर अन्तरविरोधों और अड़चनों की अवस्था आ गई है। सामन्तवादी व्यवस्था की अपेक्षा पूंजीवादी व्यवस्था में समाज ने पैदावार के साधनों को यन्त्रों का रूप देकर अपूर्वभूत विकास किया है,

इसमे सन्देह नहीं। आज मध्यम आर्थिक अवस्था के व्यक्ति के लिये जिस प्रकार जीवनोपयोगी साधन और सुविधायें मिल सकती हैं, सामन्तकाल मे उन्ही सामन्तों को मिल सकती थीं जो चालीस-पचास दासों या रैय्यत को अपनी सेवा के लिये पाल पोस कर अपने नियंत्रण में रख सकते थे। इसका कारण यह है कि समाज ने विज्ञान के विकास से यन्त्रों के रूप मे धातु के दासों की बहुत बडी सख्या बनाली है जिन्हे एक रखवाले मनुष्य की शक्ति चालू करके चालीस-पचास व्यक्तियों की शक्ति का काम करा सकती है। परन्तु समाज द्वारा बनाई या सचय की हुई पैदावार की यह शक्ति पूर्णत पूँजीपति श्रेणी के ही नियंत्रण मे है। पूँजीपति श्रेणी इस शक्ति को समाज के उपयोग के लिये उसी सीमा तक व्यवहार मे लाती है जहाँ तक कि यह श्रेणी अधिक से अधिक मुनाफा कमा सकने का अवसर देखती है। पूँजीपति श्रेणी का लक्ष्य वास्तव मे समाज की आवश्यकता पूर्ण करना नही अपने लिये मुनाफा कमाना ही होता है। पूँजीपति श्रेणी मुनाफा उसी अवस्था मे कमा सकती है जब उनकी सम्पत्ति (पैदावार के साधनों) द्वारा की गई पैदावार को समाज में खपाने के लिये खरीद कर सके। समाज किसी भी पूँजीपति की पैदावार को अपने श्रम के लिये मिलने वाले दामो या फल से ही खरीद सकता है। पूँजीपति बाजार की होड़ में माल महगा तो बेच नहीं सकता। वह अपना मुनाफा बढाने के लिये श्रम करने वाले लोगों (जो कि समाज के प्रति हजार व्यक्तियों में से नौसौनिन्यानवे हैं) के श्रम का फल या मूल्य कम से कम देता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था पूँजी के रूप में पैदावार की शक्ति को बढ़ाने के साथ साथ समाज की पैदावार को खपाने की शक्ति का घटाती भी जाती है।

ज्यों ज्यों समाज में पदार्थों की खपत घटती है, पूँजीपति दाम गिराकर अपना मुनाफा कम न होने देने के लिये या अनबिका माल जमा न होने देने के लिये पैदावार को घटाते हैं। पूँजीपति अपने देश के बाजार में खपत न देख दूसरे देशों के बाजारों पर अधिकार करने की चेष्टा करते हैं। परदेश के बाजारों के लिये जब दो राष्ट्रों के पूँजीपतियों मे होड़ होती है तो अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का जन्म होता है। अन्तर राष्ट्रीय युद्धों में देशों की साधनहीन प्रजा तो नर सहार का शिकार बनती है परन्तु बडे-बड़े पूँजीपति नर सहार के साधनों (तोप, बन्दूक, बम और बमबार हवाई जहाज) को बना कर और भी अधिक पूँजी बटोरने का अवसर पा लेते हैं।

पूंजी को बढाने का साधन है मुनाफा या लाभ। ऐसे लाभ का एक मात्र उपाय है, समाज को पैदावार के लिये जितना दिया जाये उससे अधिक समाज से बटोर लिया जाये। समाज द्वारा उत्पन्न किये गये धन को कुछ एक पूंजीपतियों की तिजोरियों मे बटोर कर उसे पैदावार का ही साधन बनाते जाने की पूंजीवाद की प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि समाज की पैदावार की शक्ति जितना उत्पन्न करती है उतना खर्च नहीं कर सकती। इसका अवश्यम्भावी परिणाम पूंजीपतियों के अतिरिक्त शेष समाज की आर्थिक अवस्था का गिरते जाना है। ऐसी अवस्था मे पूंजीपति श्रेणी को समाज की पैदावार की शक्ति को बढाना लाभदायक नहीं जान पड़ता। यदि वैज्ञानिक आविष्कारों से पैदावार की शक्ति और बढती है तो यह उन्नति आर्थिक का संकट का कारण बन जाती है। अर्थात् पहले की अपेक्षा कम मजदूरों से काम लिया जाता है और समाज में बेकारी बढती है और समाज में उत्पन्न पदार्थों की पैदावार को खपा सकने वालों की संख्या और भी कम हो जाती है। पैदावार के साधनों का विकास समाज के लिये हानिकारक होना अस्वाभाविक बात है। यह समाज की गति में अन्तर विरोध प्रकट करता है। संसार के वे सब देश जो पूंजीवादी प्रणाली के अनुसार चल रहे हैं, इस प्रकार के अन्तरविरोधों की अवस्था में फसे हैं। उन देशों की बहुत बड़ी जन-संख्या की आवश्यकतायें अपूर्ण रहने पर भी वे अपने देश की पैदावार को दूसरे देशों के बाजारों में खपाते हैं। जब दूसरे देशों में भी बाजार नहीं मिलते तो पदार्थों के दाम गिरने न देने के लिये पैदावार को नष्ट कर दिया जाता है या पैदावार की शक्ति को युद्धों की तैयारी के सामान बनाने मे खर्च किया जाने लगता है जिसे मनुष्य समाज के कल्याण का नहीं, संहार का ही मार्ग कहा जायगा।

हमारा देश आज पूंजीवादी प्रणाली के अन्तरविरोधों से ही पीडित है। यद्यपि हमारे देश में औद्योगीकरण उस सीमा तक नहीं हो पाया जैसा कि अमरीका और यूरोप के देशों मे हो चुका है परन्तु हमारे देश के बहुत समय से शोषण का शिकार बने रहने के कारण हमारे देश मे पूंजीवाद के अन्तरविरोध शीघ्र ही प्रकट होने लगे हैं। भारत के पूंजीपतियों के सामने वसे अन्तरराष्ट्रीय बाजार नहीं हैं जैसे कि अमरीका और यूरोप के औद्योगिक विकास के समय उन देशों के सामने थे। भारत की प्रजा का शोषण ब्रिटिश पूंजीवाद पहले ही

बहुत कर चुका है। इसलिये इस देश की पूंजीपति श्रेणी के लिये मुनाफे के साधन से समाज को चूस कर पनपने की सीमा शीघ्र ही आ गई है और पूंजीवाद के विकास की सीमा पर पहुँच कर प्रकट होने वाले अन्तरविरोध उग्र रूप में प्रकट होने लगे हैं। ऐसी अवस्था में देश का औद्योगीकरण पूंजीपतियों के मुनाफे के लोभ से होना सम्भव नही। भारत के पूंजीपति केवल उन्ही धन्धों को देश में चलाने की बात सोचते है जिनमे वे साम्राज्यवादी होड के मुकाबले मे भी शोषण कर (मुनाफा कमा) सकते हैं अथवा वे साम्राज्यवादी देशों की दलाली से ही अपना लाभ देखते हैं। इसीलिये भारत मे मोटर बनाने के तथा दूसरे अनेक धन्धे या कारखाने वास्तव में पदार्थों को न बना कर बनेबनाये कल पुर्जों को समेटने के ही चलने लगे हैं। भारत की गाधीवादी सरकार ने जिन पूंजीवादी देशों का सहारा भारत का औद्योगीकरण करने के लिये लिया है, वे भारत को अपना बाजार बनाये रखने के लिये यहा मौलिक उद्योगों को पनपने ही नही देते। इसे केवल कृषि प्रधान देश बनाये रखना चाहते है। +

भारत में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तरविरोध सभी ओर उग्ररूप में प्रकट हो रहे है। उदाहरणत यहा के पूंजीपति कपड़ा बनाने वालों का व्यवसाय देश की अधिकाश जनता के लगोटी के लिये हाथ भर कपड़े के लिये तरसते रहने पर भी विदेश में कपडा भेजे बिना नही पनप सकता।* यह उद्योग भारत की जनता की आवश्यकता पूरी करने और क्रय शक्ति बढाने का साधन नही केवल पूंजीपति मालिकों के मुनाफा कमाने का ही साधन है। कपडे के ही व्यवसाय की बात नहीं, बाजार मे किसी भी पदार्थ का मूल्य गिरना इस देश की व्यवसायिक व्यवस्था को चिन्तित कर देता है। पदार्थों के दाम कम होने पर पूंजीवादी प्रणाली का घबराना उसकी जनविरोधी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसके विपरीत समाजवादी व्यवस्था मे पदार्थों का मूल्य कम होना समाज की आर्थिक उन्नति का लक्षण माना जाता है। हमारी गाधीवादी सरकार के विचार में भारत के आर्थिक सकट का एक कारण इस देश की जन-

+ अमरीकन राजदूत चेस्टर बोल्स की भारत को यही सलाह है कि वह अपनी कृषि की उन्नति से ही राष्ट्र निर्माण कर सकता है।

* National Herald, Lucknow Dt 20th October 1952

संख्या बहुत बढ़ जाना भी है। जनसंख्या बढ़ने का अर्थ देश की श्रमशक्ति बढ़ना क्यों न माना जाय ? बशर्ते जनता को श्रम करने का अवसर मिलता हो ! पर ऐसा पूंजीवादी व्यवस्था में नहीं हो सकता। पूंजीवादी-जमींदारी चीन की भी ऐसी ही अवस्था थी। चीन के समाजवादी आर्थिक व्यवस्था अपना लेने के बाद से चीन की भारत की अपेक्षा भी घनी जनसंख्या उनकी शक्ति का स्रोत बन गयी। गांधीवादी सरकार के लिये जनसंख्या सिरदर्दी का कारण है। पूंजीवादी व्यवस्था में उन लोगों का कोई मूल्य नहीं जो इस व्यवस्था को मुनाफा कमाने का अवसर नहीं दे सकते। * समाज को आत्महत्या के ऐसे मार्ग से बचाने का उपाय पैदावार को मुनाफे के लिये न कर सामाजिक उपयोग के लिये करना ही है। यह तभी सम्भव होगा जब पैदावार के साधनों और व्यवस्था पर मुनाफे को लक्ष्य समझने वाली पूंजीपति श्रेणी के स्थान पर समाज का संचालन और नियंत्रण सर्वसाधारण जनता के हाथ में हो अर्थात पैदावार के साधनों का सामाजीकरण हो जाय।

समाज से विषमता और अन्तरविरोध दूर करके नयी व्यवस्था लाने का काम समाज का वही अंग कर सकता है जो इस वर्तमान व्यवस्था में जीवन निर्वाह असम्भव पा रहा है, जिसका जीवन व्यवस्था के परिवर्तन के बिना नष्ट हो जायगा और जो नयी व्यवस्था से ही जीवन निर्वाह और विकास का अवसर पा सकता है। समाज का यह अंग साधनहीन संगठित मजदूर और किसान वर्ग है। साधनों के सामाजीकरण का अर्थ इस श्रेणी द्वारा उत्पन्न किये गये पैदावार के साधनों को (जो मौजूदा व्यवस्था के कारण इनसे छिने हुए हैं) इनके अधिकार में कर देना है। पूंजीपति श्रेणी इस परिवर्तन का विरोध करती है इसलिये पूंजीपति श्रेणी और साधनहीन श्रेणी में संघर्ष अनिवार्य है। जीवन के लिये अवसर और समाज से विषमता दूर करने के लिये साधनहीन श्रेणी के संघर्ष को हिंसा नहीं कहा जा सकता। यह संघर्ष समाज से हिंसा दूर करने का प्रयत्न है और समाज की आत्मरक्षा की अनिवार्य और स्वाभाविक गति है।

---

*दूसरे महायुद्ध के बाद से रूस में पांच बार कीमतें गिर चुकी हैं। चीन में भी समाजवादी व्यवस्था कायम होने के बाद से पदार्थों के मूल्य गिर रहे हैं परन्तु भारत में भोजन और वस्त्र के दाम बढ़ते ही जा रहे हैं।

ऐतिहासिक क्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेणीसंघर्ष को मार्क्सवाद पैदा नहीं करता। श्रेणी संघर्ष का कारण समाज में शोषक और शोषित श्रेणियों का होना ही है। श्रेणीसंघर्ष का अंत समाज में श्रेणियों का भेद न रहने से समाज को श्रेणी रहित बना देने से ही हो सकता है। मार्क्सवाद श्रेणीसंघर्ष द्वारा श्रेणीसंघर्ष के कारणों को समाप्त कर देना चाहता है। पैदावार के साधनों के पूरे समाज की साझी और सामूहिक सम्पत्ति बन जाने पर स्वयं श्रेणीसंघर्ष के कारण समाप्त हो जायेंगे। उस अवस्था में कोई भी साधनहीन न होगा और न कोई दूसरों की अपेक्षा अधिक साधनवान।

मालिक श्रेणी के स्वार्थ से अंधा गांधीवाद श्रेणीसंघर्ष की निन्दा कर श्रेणीसंघर्ष को शांत करने का उपदेश तो देता है परन्तु श्रेणी संघर्ष के कारण समाज में साधनवानों और साधनहीनों को भेद को भी बनाये रखना चाहता है। यह ठीक ऐसा है कि घर में लगी आग को बुझाया न जाये और घर को जलने न देने का भी उपदेश दिया जाय। साधनों के बिना समाज का जीवन असम्भव है। समाज में साधन होंगे तो कोई न कोई उनका स्वामी होगा ही। समाज के कल्याण के लिये पैदावार के साधनों का बढ़ाना भी आवश्यक है। समाज में साधनों के बढ़ते जाने पर भी श्रेणी भेद न होने देने का उपाय साधनों का सामाजीकरण ही है। गांधीवाद साधनों को सम्पूर्ण समाज या जनता की सम्पत्ति मानने का उपदेश तो देता है परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन श्रेणीसंघर्ष का विरोध करता है। पैदावार के साधनों के सामाजीकरण का मार्ग श्रेणीसंघर्ष के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। गांधीवाद साधनों के सामाजीकरण का उपाय साधनों के पूंजीपति मालिकों को साधनों का संरक्षक मान लेना बताता है। इस नाम परिवर्तन से पूंजीवादी व्यवस्था की प्रकृति और परिणाम नहीं बदल सकते। साधनों की मालिक श्रेणी ने संरक्षकता के धर्म को अब तक किस प्रकार निभाया है, इस बात के लिये इतिहास की साक्षी ही सब से बड़ा प्रमाण है।

इतिहास के किसी भी काल में शोषित वर्ग ने संघर्ष के बिना कभी कोई अधिकार या सुविधा नहीं पायी। मजदूरी का जितना समय और दर आज है, वह संघर्षों की लम्बी श्रृंखला का परिणाम है। जो पूंजीपति श्रेणी मजदूरों की मजदूरी में एक पाई भी विकट संघर्ष के बिना नहीं बढ़ा सकती वह समाज हित के विचार से अपनी पूरी सम्पत्ति समाज

के हाथ सौंप देगी, ऐसी शेखचिल्लीपन की कल्पना केवल गांधीवाद ही कर सकता है। साधनों पर स्वामित्व जमाने का प्रयोजन त्याग की भावना नहीं हो सकती। पूंजीपति श्रेणी से अपने प्रयोजन के विरुद्ध जाने की आशा नहीं की जा सकती। गांधीवाद का कहना है कि वह पूंजीवाद का विरोध करता है परन्तु वह पूंजीवाद के मूल (पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व) की रक्षा करना चाहता है। गांधीवाद पूंजीपति श्रेणी को तो त्याग द्वारा अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति बना देने का उपदेश देता है परन्तु वह साधनहीन श्रेणी को समाज के साधनों का सामाजीकरण करने के संघर्ष से रोकता है। यदि समाज के साधनों का सामाजीकरण समाजहित का काम है और पूंजीपति श्रेणी इस कर्तव्य को पूरा नहीं कर रही तो साधनहीन श्रेणी ही उसे क्यों न करे?

अब तक समाज में सदा श्रेणियां रही हैं तो अब समाज को श्रेणीहीन कैसे बनाया जा सकता है? इस प्रकार का तर्क ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में ही किया जाता है। समाज में साधनवान और साधनहीन श्रेणियां होने का कारण यह था कि समाज पैदावार के लिये प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करता था। ऐसे साधन सीमित रहते थे और इन सीमित साधनों पर समाज की उन्नतिशील, सचेत और बलवान श्रेणी अधिकार कर लेती थी और शेष लोगों को साधनहीन बनाकर उन्हें पैदावार का साधनमात्र बना लेती थी। साधनवान श्रेणी तो सचेत और संगठित होती थी परन्तु साधनहीन लोग निर्बल, बिखरे हुए और असंगठित।

विज्ञान के विकास ने आज मनुष्य को प्रकृति पर विजयी बना दिया है। आज पैदावार के साधनों को आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है, इसलिये सम्पूर्ण समाज साधनवान या सामूहिक रूप से साधनों का मालिक हो सकता है। इसके अतिरिक्त पैदावार के साधनों में परिवर्तन और पैदावार के सामूहिक ढंग से होने के कारण साधनवानों में तो व्यवसायिक होड़ स्वाभाविक है, एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपतियों को निगल कर ही बड़ा बन सकता है परन्तु श्रमिक श्रेणी पूंजीपतियों से मुकाबिले में केवल संगठन द्वारा ही आत्मरक्षा कर सकती है। उद्योगों के केन्द्रीकरण ने श्रमिक वर्ग को समेट कर, उनके साधनहीन होने पर भी, समाज की सबसे बलवान श्रेणी बना दिया है। समाज का निर्वाह इसी श्रेणी पर निर्भर करता है। इसलिये समाज की व्यवस्था इसी श्रेणी

द्वारा नियमित और नियंत्रित होना स्वाभाविक है। इस श्रेणी की व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति का दमन नहीं हो सकता क्योंकि वह समाज के सभी व्यक्तियों को (समाज विरोधी व्यक्तियों को छोड़ कर) साधनों का समान अवसर और अधिकार देती है क्योंकि पूंजीपति श्रेणी साधनहीन श्रेणी द्वारा समाज की व्यवस्था को अपने अधिकार में करने में रुकावट डालती है, इसलिये मौजूदा व्यव था से मुक्ति के लिये साधनहीन श्रेणी का संघर्ष अनिवार्य है। श्रेणी सघर्ष को हिंसा का मार्ग बताना मालिक श्रेणी के स्वार्थों की रक्षा के लिये गाधीवाद का प्रपंच मात्र है।

समाज के पैदावार के साधनों का सामाजीकरण हो जाने पर पैदावार के काम मे सहयोग देने वाले सभी लोग सामूहिक और जनतान्त्रिक रूप से पैदावार और बंटवारे की व्यवस्था का नियन्त्रण कर सकेंगे। समाजवाद विरोधी लोग ऐसी व्यवस्था को मजदूरों की तानाशाही या मजदूरों का निरकुश राज कहते हैं। गाधीवादी और 'प्रजातत्र-समाजवादी' लोगों का कहना है कि पूजीवादी व्यवस्था के स्थान पर मजदूरों का निरंकुश राज कायम कर देने से हिंसा समाप्त न हो जायगी, एक प्रकार की हिंसा की जगह दूसरी प्रकार की हिंसा कायम हो जायगी। यह तर्क असगत है। पैदावार के लिये श्रम करने वाली श्रेणी के हाथ में आर्थिक व्यवस्था होने का अर्थ यह नहीं है कि बडी सख्या को या कुछ लोगों को जीवन रक्षा के साधनों से हीन रखा जायगा या उनके श्रम का परिणाम दूसरे लोग छीन सकेंगे। समाज में साधनवान और साधनहीन का भेद न रहने पर मजदूर या श्रमिक उस समय एक पृथक श्रेणी नही रहेगे। पैदावार मे शारीरिक अथवा बौद्धिक शक्ति से सहयोग देने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहे आज वह मालिक श्रेणी का ही अग क्यों न हो, समाज की व्यवस्था में सहयोग का पूरा अवसर होगा। ऐसी व्यवस्था को समाज के एक अंग का दूसरे अंग पर निरकुश शासन नहीं कहा जा सकता।

मार्क्सवादी लोग समाजवादी क्रान्ति के पश्चात श्रमिक वर्ग के निरकुश शासन (डिक्टेटरशिप आफ प्रोलिटेरियेट) से विषमता रहित आर्थिक व्यवस्था कायम करने की बात कहते हैं। इसका अर्थ पूंजीपति श्रेणी का दमन नहीं हो सकता क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में पूजीपति श्रेणी या शोषक श्रेणी का अस्तित्व ही सम्भव नही। श्रमिक वर्ग के निरकुश शासन का अर्थ है कि सम्पूर्ण समाज के कल्याण की उपेक्षा

करके केवल अपने स्वार्थ के लिये समाज मे अव्यवस्था की चेष्टा करने वालों पर नियंत्रण रखा जा सके। 'निरंकुश' शब्द का अर्थ पूर्ण शक्ति ही होता है। वास्तव मे सभी व्यवस्थाओं का शासन निरंकुश होता है। पूंजीवादी प्रजातंत्र भी पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्णत निरंकुश शासन है। इस व्यवस्था मे वर्तमान व्यवस्था को पलटने की चेष्टा करने वालों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है। हा, जो लोग पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थक हैं उन्हे इस व्यवस्था की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है। गाधीवाद के अनुसार जनता के बहुत बडे अंश का साधनहीन और असहाय बने रहना और पूंजीपतियों को समाज के पैदावार के साधनों का संरक्षक बना कर उनका निरंकुश शासन रामराज्य के नाम से स्थापित करना अहिंसा है परन्तु जनता के बहुत बडे अंश या सम्पूर्ण जनता का अपने हितों के अनुसार अपनी निरकुश व्यवस्था चला सकना बहुत बडी हिंसा है। जनवादी दृष्टिकोण से श्रमिक जनता के निरकुश शासन का अर्थ हिंसा की सम्भावना पर अकुश ही है। वर्तमान अवस्था में इसका एक मात्र मार्ग श्रेणी सघर्ष द्वारा समाज को श्रेणीहीन बना सकना ही है।

७

गांधीवादी सत्याग्रह

सत्याग्रह का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

सत्याग्रह ही गांधीवादी कार्यक्रम का सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने वाला पहलू रहा है। प्राय ही गाधीवाद के सिद्धान्तों और दूसरे कार्यक्रमों की उपेक्षा कर सत्याग्रह को ही गाधीवाद समझ लिया जाता है। सत्याग्रह को वर्तमान काल का, विशेष कर भारत मे, सब से प्रबल जनवादी, नैतिक और राजनैतिक साधन बताया गया है।

सत्याग्रह शब्द का अर्थ सत्य के प्रति आग्रह या सत्य पर दृढ़ रहना ही है परन्तु गाधीवादी-सत्याग्रह की परिभाषा मे ही उसके एक राजनैतिक शस्त्र या साधन होने का सकेत है। गाधीवाद के अनुसार सत्याग्रह की प्रामाणिक परिभाषा इस प्रकार है —"सत्यादि धर्मों का पालन करने का आग्रह, और अधर्म का सत्यादि द्वारा ही विरोध।" "विरोध करने मे खासकर अहिसा भग की सम्भावना रहती है। इसलिये अहिसा पर जोर देकर कहा जाता है कि अधर्म का अहिसामय साधन से विरोध, यह सत्याग्रह है।" "सत्याग्रह के नाम से जिस युद्ध विधि का प्रचार हुआ है, उसके शुद्ध प्रकार की यह स्थूल व्याख्या की जा सकती है।"* सत्याग्रह की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सत्याग्रह विरोध अथवा युद्ध की ही एक विधि है। इस विधि की विशेषता यह है कि विरोध अथवा युद्ध हिंसा के साधन से नही, केवल सत्य के प्रति आग्रह के साधन से ही सफल बनाया जाता है। विरोध अथवा युद्ध करते हुए भी अहिसात्मक बने रहना, प्रेम का दावा करते रहना अथवा अहिसा का दम भरते रहना गाधीवादी सत्याग्रह की विशेषता है।

---

१ गांधी विचार दोहन, पृष्ठ २१, तीसरा सस्करण, सस्ता साहित्य मडल ।

गांधीवादी दृष्टि से सत्याग्रह का अर्थ समझने के लिए गांधीवादी दृष्टि से ही सत्य और अहिंसा का अर्थ भी ध्यान में रखना आवश्यक है। गांधीवाद के अनुसार सत्य का ऊंचा अर्थ परमेश्वर है १ जिसे सर्वसाधारण पहचान नहीं सकते। सत्य का व्यवहारिक अर्थ "दूर दृष्टि से हितकर अथवा श्रेष्ठ होना है।" २ किसी बात के दूर दृष्टि से हितकर अथवा श्रेष्ठ होने की कसौटी भी गांधीवाद के अनुसार जन समाज का भौतिक हित और अनुभव नहीं केवल ईश्वर के साक्षात्कार का उपाय होना है अथवा ईश्वर की प्रेरणा जानने वाले लोगों के निर्णय के अनुसार समाज का 'आत्मिक' कल्याण है। इसी प्रकार गांधीवाद के अनुसार हिंसा की परिभाषा भी भौतिक व्यवहार या परिणाम की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती क्योंकि उसका निर्णय केवल वृत्ति से होता है। गांधीवाद के अनुसार "वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गंध न होना"३ ही अहिंसा है। वृत्ति का प्रश्न विवादग्रस्त हो सकता है। व्यक्ति की वृत्ति को उसके व्यवहार से ही जाना जा सकता है, दावे से नहीं। अपनी वृत्ति को अहिंसात्मक तथा दूसरे की वृत्ति को हिंसात्मक कह देना हठपूर्ण अहम्मन्यता ही है।

सर्वसाधारण के लिये सत्याग्रह की पहचान अपने उद्देश्य या विश्वास के अनुसार हिंसा के विना यत्न करना है। हिंसा का गांधीवादी व्यवहारिक अर्थ उसके अंग्रेजी अनुवाद नानवायोलेंस से ही अधिक स्पष्ट होता है। गांधीजी हिंसा और 'नानवायोलेंस' शब्दों का व्यवहार राजनैतिक क्षेत्र में और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध शारीरिक शक्ति का उपयोग न करके बल हठ से उनकी चोट सहकर भी अपने हठ पर दृढ़ रहने के अर्थ में या स्वयं कष्ट सह कर विरोधी को परास्त कर देने के अर्थ में ही करते आये हैं। गांधीवादी आज भी इस शब्द का व्यवहार इसी भाव से करते हैं।

शारीरिक शक्ति का उपयोग करना अथवा स्वयं कष्ट सह लेना ही अहिंसा की कसौटी नहीं मान ली जा सकती। अपना उद्देश्य पूरा करने के लिये मनुष्य कई प्रकार से प्रयत्न करता है। इसी प्रकार पसन्द न आने वाली बात का विरोध करने के भी कई ढंग हो सकते हैं। किसी वस्तु को पाने के लिये या किसी वस्तु का विरोध करने के लिये शारीरिक रूप से निष्क्रिय रह कर भी प्रतिद्वन्दी को परेशान कर दिया जा सकता है।

(१) गांधी विचार दोहन पृष्ठ २१ (२) पृष्ठ २१ (३) पृष्ठ ३

ऐसी निश्क्रिय शक्ति केवल अन्याय के विरुद्ध ही नहीं, दूसरों के विचार से न्याय के विरुद्ध भी उपयोग में लाई जा सकती है। उदाहरणत किसी व्यक्ति के सर्वनाश के लिये देवता के सम्मुख उपवास कर जप-तप करने बैठ जाना अहिंसात्मक व्यवहार नहीं कहा जायगा। पति को जेवर देने के लिये विवश करने के लिये जब कोई मूर्खा पत्नि उपवास कर बैठे तो उसे भी अहिंसात्मक व्यवहार नहीं कहा जा सकता। गांधी जी द्वारा अछूतों को मंदिर प्रवेश का अधिकार देने का आन्दोलन चलाने पर कुछ लोगों ने इस माग के विरुद्ध अनशन व्रत किया तो उसे गांधी जी अहिंसात्मक सत्याग्रह मानने के लिये तैय्यार न हुए। शारीरिक शक्ति का उपयोग किये बिना केवल हठ से दूसरे व्यक्ति को कठिन परिस्थिति में डाल देना केवल इसलिये भलमनसाहत नहीं कहा जा सकता कि शारीरिक शक्ति का उपयोग नहीं किया जा रहा। ऐसे व्यवहार को केवल 'पैसिवव्हायोलेंस' या निश्क्रिय हिंसा ही कहा जायगा। सत्याग्रह का व्यवहारिक अर्थ अपने विचार में न्याय या सत्य के लिये शारीरिक शक्ति का प्रयोग किये बिना, स्वयं कष्ट सह कर दृढता पूर्वक यत्न करना ही है।

जिस समय तक गांधी जी अपने विरोधियों के विरुद्ध शारीरिक शक्ति का उपयोग किए बिना आन्दोलन चलाते रहे या सत्याग्रह की युद्ध विधि का उपयोग करते रहे, वे इसे पूर्ण रूप से अमोघ और नैतिक मार्ग बताते रहे। जब सत्याग्रह की युद्ध विधि का प्रयोग स्वयं गांधीजी के विरुद्ध या गांधी जी द्वारा चलाए गए आन्दोलनों के विरुद्ध भी होने लगा तो उन्होंने अहिंसा की परिभाषा को और भी सूक्ष्म बना दिया। उदाहरणतः "दूसरों के शरीर या मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या चोट पहुँचती जान पड़ने पर भी, सम्भव है कि उसमें शुद्ध अहिंसा धर्म का पालन होता हो। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि इस प्रकार दुःख या चोट पहुँचाने का आक्षेप किए जाने योग्य कुछ न करने पर भी इस व्यक्ति ने हिंसा की हो। अहिंसा का भाव दिखाई देने वाले परिणाम में नहीं है बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेष विहीन स्थिति में है।" अहिंसा की यह परिभाषा सर्वसाधारण से यह अवसर छीन लेती है कि वे भौतिक दृष्टि से, जनहित और जनकल्याण के परिणामों से स्वयं हिंसा का निर्णय कर सकें। हिंसा-अहिंसा का निर्णय केवल ईश्वरीय प्रेरणा या ईश्वर को पहचान सकने वाले लोगों के ही अधिकार की बात रह जाती है। इसी अधिकार से गांधीवादी सरकार अपने विरुद्ध शक्ति

प्रयोग को हिंसा और स्वयं तलवार-बन्दूक का उपयोग करके भी अहिंसा को ही रोकने का दावा करती है। जिन आन्दोलनों का समर्थन गांधीवादी लोग न करते हों उनका शारीरिक शक्ति का उपयोग किए बिना, स्वयं कष्ट उठाकर अपने उद्देश्य के लिए यत्न करना भी हिंसा बन जाता है। इसी न्याय की कसौटी पर गांधी जी देश की आजादी के लिये सभी सम्भव साधनों से यत्न करने में अपने प्राण उत्सर्ग कर देने वाले क्रान्तिकारियों खुदीराम बोस, भगतसिंह और चन्द्र-शेखर आजाद आदि के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव (प्रबल जन विरोध के बावजूद) कांग्रेस में पास कराते रहे और जब अपने अधिकारों के लिए शान्तिपूर्ण ढंग से मिलों आदि पर धरना देने वाले लोगों पर सरकार द्वारा गोली चलाई गई तो वे इस बल प्रयोग का समर्थन भी करते रहे। ऐसे समय तोप और बन्दूक की शक्ति से स्वामी श्रेणी के अधिकारों की रक्षा करना ही गांधी जी को अहिंसा की वृति जान पड़ी और मजदूर वर्ग के निष्क्रिय रह कर लाठी और बन्दूक का प्रहार सह लेना हिंसा की वृति।

यह बात ठीक है कि कांग्रेस आन्दोलन का नेतृत्व गांधी जी के हाथों में जाने से पूर्व भारत के राजनैतिक आन्दोलन का क्षेत्र बहुत सीमित था। उस समय कांग्रेस वैधानिक दाव-पेंच का ही अखाड़ा थी। क्रान्तिकारी लोगों के आन्दोलन गुप्त होने के कारण जन सम्पर्क से दूर थे। गांधी जी ने आन्दोलन को विदेशी सरकार के विरुद्ध निष्क्रिय विरोध (हड़ताल) का रूप दे सार्वजनिक सम्पर्क का अवसर दिया। व्यवहार कौशल या नीति की दृष्टि से यह उचित माना जायगा कि विरोधी पक्ष में शस्त्रास्त्र की शक्ति अधिक होने पर विरोधी का सामना किसी ऐसे दूसरे साधन से किया जाय जिससे विरोधी उतना सबल न हो। ऐसी परिस्थिति में विरोधी को परास्त करने के लिये निष्क्रिय विरोध (हड़ताल द्वारा असहयोग) की नीति को उपयोगी माना जायगा। यह आन्दोलन या संघर्ष का परिस्थितियों के कारण चुना गया रूप होगा। इस चुनाव में धर्म और आध्यात्मिकता का कोई प्रश्न नहीं। सचाई का तकाजा है कि इसे नीति नैतिकता कहा जाय। आन्दोलन का यह ढंग जनता का साहस बढ़ाने के लिये उप-योगी है क्योंकि आरम्भिक अवस्था में यह कानून की सीमा में रहता है और सरकार इस पर प्रहार नहीं कर सकती। आन्दोलन के नेता द्वारा

ऐसी नीति का उपयोग उसकी व्यवहार कुशलता का प्रमाण है उसकी आध्यात्मिक शक्ति का नहीं। ऐसी नीति कहीं सफल हो सकती है कहीं असफल भी। इसे अवसर अनुसार बदला भी जा सकता है। गांधी जी अपने निष्क्रिय विरोध को 'नीति' नहीं 'नैतिकता' का नाम देते थे और इसकी असफलता असम्भव बताते थे परन्तु उनकी यह नैतिकता अनुभव की कसौटी पर कभी सफल प्रमाणित न हुई।

गांधी जी या गांधीवादियों का दावा है कि वे सत्याग्रह या निष्क्रिय विरोधी, विरोधी को परास्त करने के लिये नहीं करते। वे हृदय में शत्रु के प्रति घृणा नहीं, प्रेमभाव रखकर उसका हृदय परिवर्तन करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन गांधी जी अपने जीवन में और उनके पश्चात गांधीवादी भी कभी अपने किसी विरोधी का हृदय परिवर्तन नहीं कर सके। गांधी जी द्वारा आरम्भ किये गये प्रत्येक राजनैतिक आन्दोलन को स्वयं गांधी जी ने ही, जनता को सत्याग्रह के अयोग्य बताकर स्थगित कर दिया। इस अनुभव से हम सत्याग्रह को जनता का नहीं किसी विशेष व्यक्ति का ही साधन मान सकते हैं। यह जान कर भी कि जनता ऐसे साधन का उपयोग उचित रूप से नहीं कर सकती, उसे उसी साधन से बांधे रखने का प्रयोजन जन शक्ति को भटकाना ही हो सकता था। साम्प्रदायिक क्षेत्र में गांधी जी की हृदय परिवर्तन की सत्याग्रही शक्ति कितनी सफल हुई? इसका प्रमाण देश का विभाजन और भारत पाकिस्तान की वर्तमान समय की भावनायें ही पर्याप्त हैं। गांधी जी के व्यक्तित्व के प्रति आदर रख कर भी इस कटु अनुभव से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनके जीवन के अन्तिम सत्याग्रह ने उनके आदर्शों और नैतिकता से सहमत न होने वाले लोगों में हृदय परिवर्तन के बजाये इतनी तीव्र प्रतिहिंसा उत्पन्न कर दी कि उन लोगों ने अपनी जान पर खेल कर भी उनकी हत्या कर देना ही अपना मूर्खतापूर्ण धर्म समझ लिया और गांधी जी के बलिदान ने भी भावनाओं और विचारों के परिवर्तन में कोई सहायता नहीं दी। यह घटना इसको स्पष्ट कर देती है कि नैतिकता और न्याय किसी व्यक्ति विशेष के निर्णय की बात नहीं बल्कि सामूहिक निर्णय की वस्तु है।

मनुष्य जिस सत्य और न्याय में विश्वास करे उसके लिये मन, वचन और कर्म से प्रयत्न करना कर्तव्य समझना चाहिये। ऐसे ध्येय के लिये केवल मानसिक शक्ति से यत्न करने और शारीरिक बल क

उपयोग न करने में क्या आध्यात्मिकता हो सकती है ? स्वयं शारीरिक बल का उपयोग न कर विरोधी को शारीरिक बल का उपयोग करने के लिये विवश कर देना भी नैतिकता नहीं माना जायगा, क्योंकि ऐसी परिस्थिति का उत्तरदायित्व निष्क्रिय विरोध करने वाले पर ही रहेगा। यदि हम अपनी निष्क्रिय दृढ़ता को नैतिक बल मान लें और हमारे दृष्टिकोण से विरोध करने वाले भी अपने ध्येय को नैतिक मान कर इसी प्रकार के निष्क्रिय विरोध में अड जायें तो हम किस परिणाम पर पहुँचेंगे ? गांधी जी ऐसी परिस्थिति से बेखबर नहीं थे। इसीलिये 'गांधी विचार दोहन' में अहिंसा की विस्तृत व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है कि आक्षेप योग्य कुछ न करने पर भी गहरी हिंसा हो सकती है। गांधीवाद मत से अहिंसा केवल वृत्ति द्वारा ही निश्चित हो सकती है। इसी परिभाषा के आधार पर गांधी जी मजदूरों की शान्त हड़ताल को कभी अहिंसात्मक मानने के लिये तैयार नहीं हुए और सरकार द्वारा मजदूरों पर लाठी-गोली के उपयोग को भी उन्होंने हिंसा नहीं माना। इससे बढ़कर अगला कदम गांधीवाद का दम भरने वाली कांग्रेसी सरकार ने यह उठाया है कि उन्हों ने मजदूरों के अपनी मांगों के लिये हड़ताल (निष्क्रिय और शान्त असहयोग) को ही दण्डनीय अपराध ठहरा दिया।*

सत्याग्रह का क्रियात्मक पक्ष

निष्क्रिय विरोध की नीति या युद्धविधि के इतिहास को ध्यान में रखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'युद्धविधि' गांधी जी का ही आविष्कार है। निरास्त्र साधनहीन लोग अपने शोषक सबल मालिकों का विरोध इस नीति या युद्धविधि से बहुत पुराने समय से करते आये हैं। दूसरे कोई साधन न होने पर आत्मरक्षा में विरोध की भावना इसी ढंग से प्रकट होती है। गांधी जी ने सत्याग्रह का कार्य-क्रम या युद्धविधि पहले पहल १९०५ में दक्षिण अफ्रीका में और १९१९ में भारत में अपनाई। संसार के दूसरे देशों की बात यदि हम न भी करें तो भारत में भी निष्क्रिय विरोध या शान्त असहयोग या हड़ताल का उदाहरण अंग्रेजी शासन में भी सन १८७७ में नागपुर की एम्प्रेस मिल के मजदूरों द्वारा मिलता है। उस समय केवल एक ही हड़ताल हो

---

* कांग्रेसी सरकार के लेबर रिलेशन्स और ट्रेड यूनियन कानून।

कर नहीं रह गई। मजदूरों ने सन १८८२ से १८६० तक काम के घण्टे निश्चित होने और सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की माग के लिये पच्चीस बार हडतालें की। * यह सब हड़तालें निष्क्रिय विरोध और शान्त असहयोग की नीति के अनुसार ही थी। निष्क्रिय विरोध या शान्त असहयोग को गाधीजी ने पहलेपहल १६१६ मे राजनैतिक क्षेत्र मे रौलेट-बिल के विरुद्ध उपयोग किया परन्तु उससे कुछ ही समय पहले बम्बई की कपड़ा मिलों के सवा लाख मजदूर हड़ताल कर चुके थे। भारत के मजदूर राजनैतिक क्षेत्र मे भी गाधीजी से पहले ही सत्याग्रह या निष्क्रिय विरोध (हडताल) का उपयोग कर चुके थे। सन १६०६ मे जब लोकमान्य तिलक को विदेशी सरकार के विरुद्ध राजद्रोह के लिये छ वर्ष की जेल का दण्ड दिया गया, बम्बई के मजदूरों ने छ दिन की आम हड़ताल रखी थी। (३) रौलेटबिल के विरुद्ध हड़ताल और निष्क्रिय विरोध प्रदर्शन में भी भारत के मजदूरों ने ही सब वर्गों से अधिक भाग लिया। निष्क्रिय विरोध की युद्धविधि के अविष्कार का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो साधनहीन वर्ग की सामूहिक आत्मरक्षा की भावना को ही।

गांधीजी और गाधीवाद को इस बात का श्रेय अवश्य है कि उन्होंने निष्क्रिय विरोध की युद्ध विधि और शान्त असहयोग की नीति को (जिनका व्यवहारिक रूप हड़ताल ही है) आध्यात्मिकता का आवरण दे दिया। गाधीजी से पूर्व शोषित वर्ग ही आत्मरक्षा मे इस साधन का उपयोग करते आये थे। गाधीजी ने इस साधन को शोषक वर्ग के हितों की रक्षा के लिये भी प्रयोग मे लाना आरम्भ कर दिया। इस युद्ध विधि को आध्यात्मिक शक्ति का नाम दे उन्हों ने इसके उपयोग का अधिकार सर्वसाधारण जनता के निर्णय से छीन कर इसे ईश्वरीय प्ररणा पा सकने वाले महापुरुष का ही एकाधिकार बना दिया। एक ओर तो वे इसे अत्याचार के विरोध की अमोघ शक्ति बतता थे दूसरी ओर मजदूर वर्ग के इस विधि को अपना लेने पर उनक विरुद्ध सरकार के लाठी और गोली के उपयोग को भी उचित ठहरा देते थे। गांधीजी का दावा था कि सत्याग्रह के उचित अवसर और ढंग को केवल वे ही समझते थे क्योंकि सत्याग्रह के औचित्य की कसौटी अहिंसा की

---

*- "भारत में मजदूर आन्दोलन और समाजवाद का उत्थान", रजनी पामदत्त। विप्लव, अगस्त १६४८

वृत्ति थी और गांधीवाद के अनुसार अहिंसा का प्रयोजन केवल स्वामी श्रेणी के क्रमागत अधिकारों की रक्षा करना ही है।

गांधीवादी सत्याग्रह का क्रियात्मक लक्ष भारत की जनता के स्वाधीनता आन्दोलन को ऐसी सीमाओं मे रखना रहा है कि भारत से विदेशी सरकार का शासन दूर करने के लिए तो जनशक्ति का उपयोग हो सके परन्तु देश की साधनहीन सर्वसाधारण जनता भारतीय मालिक श्रेणी के पंजे में ही बनी रहे। इसी उद्देश्य से गांधी जी ने सत्याग्रह के राजनैतिक आन्दोलन को धार्मिक या आध्यात्मिक रूप देने की चेष्टा की। युग-युग से इतिहास मे आध्यात्मिकता का प्रयोजन जन साधारण के मस्तिष्क या विश्वासों को प्रभु श्रेणी की दासता के बंधन में बांधे रखना ही रहा है। गांधी जी ने आध्यात्मिकता के उसी साधन को विदेशी सरकार से मुक्ति और देशभक्ति की राजनैतिक भावना के साथ मिला देना आवश्यक समझा। गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह का लगभग तीस वर्ष का इतिहास सदा ही इन सीमाओं के भीतर रहा है। सत्याग्रह के साधन को जब कभी भी शोषक वर्ग ने अपनी श्रेणी की मुक्ति के लिये व्यवहार मे लाने का प्रयत्न किया, गांधीजी ने ऐसे सत्याग्रह की जड़ मे हिंसा की वृत्ति देख ली और उसका विरोध करना आवश्यक समझा। गांधीजी के सत्याग्रह का एक मात्र आध्यात्मिक लक्ष्य विदेशी सरकार से देश के शासन का अधिकार लेने का प्रयत्न जारी रखते हुए भारतीय समाज मे श्रेणीसंघर्ष को रोके रहना ही था। सत्याग्रह के इतिहास में जब भी शोषित वर्ग के अपने बंधन तोड कर आत्म-निर्णय का अधिकार पाने की चेष्टा दिखाई दी। गांधी जी ने अपने आन्दोलन का उद्देश्य स्वराज्य की अपेक्षा अहिंसा का पालन ही बताकर उसे रोक देने मे संकोच नहीं किया। इसी उद्देश्य से उन्हों ने १९३४ मे कांग्रेस के ध्येय मे परिवर्तन कराने अर्थात कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य की अपेक्षा अहिंसा का पालन ही निश्चय कराने की चेष्टा भी की परन्तु ब्रिटिश सरकार के हाथ से शासन का अवसर शीघ्र पा सकने के लिये उतावला कांग्रेसी पूंजीपति वर्ग भी उनके आध्यात्मिक उद्देश्य की गहराई को न समझ सका और उन्हे कांग्रेस से अलग हो जाना पड़ा। *

* गांधीजी ने १९२० १९२२, १९३१, और १९४० में किस प्रकार आगे बढते स्वराज्य आन्दोलन को ईश्वरीय प्रेरणा से शिथिल कर दिया यह जानने के लिये साथी यशपाल की पुस्तक 'रामराज्य की कथा' उपयोगी होगी।

गांधीजी ने सत्याग्रह का सबसे पहला प्रयोग भारतीय व्यापारियों के अधिकारों की रक्षा के लिये दक्षिण अफ्रीका मे, सन १६०५ में किया। भारतीय व्यवसाइयों पर दक्षिण अफ्रीका मे जो अत्याचार हो रहे थे उनके विषय में गांधी जी ने करुणा पूर्ण शब्दों में कहा है "• भारतीय व्यवसाइयों पर होने वाले अत्याचारों की तुलना मे भारतीय मजदूरों पर होने वाले अत्याचार बहुत मामूली मानों मच्छर काट जाने जैसे ही थे।" शर्तबंद मजदूरी मे होने वाले अत्याचारों के विषय में शेष ससार की सम्मति कुछ और ही थी। इसका प्रमाण यही है कि सभ्य संसार उसे सह नही सका और वह प्रथा अब प्रायः समाप्त हो चुकी है। इन कुलियों के बारे मे स्वयं गांधीजी ने ही लिखा है कि उनकी अवस्था मनुष्यता से गिरी हुई थी। भारतीय व्यापारियों पर होने वाले अत्याचार की गहनता दिखाने के लिये गांधीजी ने लिखा है " नये कानून के अनुसार इन व्यापारियों को जब चाहे भारत लौटा दिया जा सकता था और उनका लाखों का व्यापार बात की बात मे चौपट हो जाता। स्पष्ट ही गांधी जी की राय मे मजदूरों की मनुष्यता की अपेक्षा लाखों के व्यापार की रक्षा करना ही अधिक अहिंसात्मक था। गाधी जी के आध्यात्मवादी न्याय की धारणा की कसौटी क्या है? यह गाधी जी के विचार में अफ्रीका के शर्तबंद मजदूरों पर होने वाले अत्याचारों की अपेक्षा वहाँ के भारतीय व्यापारियों से धन कमाने का अधिकार छीने जाने को ही असह्य समझने से व्यवसाय स्पष्ट हो जाता है कि सत्याग्रह किस प्रकार के अहिंसा धर्म की रक्षा का साधन है।

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह वहाँ के धनी भारतीय व्यापारियों और व्यवसाइयों की सहनशीलता के बल से नही चला था। इस सत्याग्रह का मुख्य बोझ गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मजदूरों और कुलियों के ही कंधों पर रखा था। भारतीय व्यापारियों के स्वार्थ की रक्षा के लिये भारतीय कुलियों का उपयोग कर सकने की अहिंसात्मक नीति के विषय मे गाधी जी लिखते हैं "या तो दक्षिण अफ्रीका के व्यापारियों को यह खयाल ही नही आया कि कुलियों की सहायता आन्दोलन चलाने मे ली जा सकती है या उन्हे भय था कि कुलियों को आन्दोलन में शामिल करने का परिणाम उनके हक मे उलटा न हो जाये।"*

* 'Satyagrah in South Africa' K. M. Gandhi P 66

गांधी जी ने इसका आध्यात्मिक उपाय ढूंढ निकाला। उन्हों ने दक्षिण अफ्रीका के भारतीय कुलियों को समझाया कि दक्षिण अफ्रीका में भारतीय व्यवसायियों पर होने वाला अन्याय भारतीय राष्ट्र का अपमान है। भारत की इज्जत हमारे हाथ मे है (India's honour is in our keeping) इस सत्याग्रह के परिणाम में दक्षिण अफ्रीका की सरकार से समझौता हुआ कि भारतीयों से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों का उपयोग भारतीयों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा का ध्यान रख कर ही किया जायगा। भारतीय कुलियों की मनुष्यता से गिरी अवस्था के लिये सत्याग्रह की बात गांधी जी को कभी नहीं सूझी।

दक्षिण अफ्रीका में सन १६०५ मे गांधी जी को भारतीय कुलियों का सहयोग सत्याग्रह आन्दोलन में उचित जचा था परन्तु भारत में, १६२० मे स्वाधीनता के लिए सत्याग्रह आरम्भ करते समय संसार की बदली हुई परिस्थिति से गांधी जी बेखबर न थे। १६१७ की रूसी समाजवादी क्रान्ति ने परम्परागत स्वामी–सेवक के धर्म की धारणाओं की असामयिकता स्पष्ट कर दी थी। गांधी जी को भारतीय मजदूर और किसान वर्ग मे अपने शोषण के बंधन तोड़ने की छटपटाहट दिखाई दे रही थी। इसलिये भारत में उन्होंने देश भर की आजादी के लिये आरम्भ किये गये सत्याग्रह में मजदूरों और किसानों को शामिल करना अनुचित समझा। इस समय उन्होंने राय दी "अनेक मजदूर-नेता समझते हैं कि राजनैतिक उद्देश्य के लिये मजदूरों की हड़तालें उपयोगी हो सकती हैं परन्तु मेरी राय में इस काम के लिये मजदूरों का उपयोग भारी भूल होगी।" * गांधी जी के नेतृत्व मे सत्याग्रही राजनीति का लगभग तीस वर्ष का इतिहास इसी सिद्धान्त पर चलता रहा। भारत की अल्प संख्यक शोषक श्रेणी के लिये अधिकार पाने के आन्दोलन में विदेशी सरकार के विरुद्ध गांधी जी ने किसान और मजदूर वर्ग को आध्यात्मिक अहिंसा का पाठ पढ़ा कर मोर्चे पर खड़ा किया। इस अहिंसा का अर्थ था कि साधनहीन लोग साधनवान श्रेणी को अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष करें स्वयं अवसर पाने के लिए नहीं। गांधी जी ने ज्यों ही साधनहीन वर्ग को विदेशी शासन के बन्धनों के साथ अपने देश के शोषकों के बंधन तोडने का भी प्रयत्न करते देखा उन्हों ने

* (यंग इण्डिया), ६ अक्टूबर १६२०

आन्दोलन को हिंसात्मक बता कर पाव पीछे हटा लिये। ऐसी अवस्था में उन्हे कायर कहा जाने का भय नही अपने भगवान के सम्मुख अपराधी समझे जाने का ही भय था।*

काग्रेसी सत्याग्रह की मूल प्रेरणा को निश्चित करने वाला गाधी जी का भगवान कौन था ? सन १९२० मे जिस समय असहयोग का आन्दोलन सार्वजनिक रूप ले रहा था चौरीचौरा मे और १९२२ मे बारदोली में किसानों के आन्दोलन क अग्रमोर्चे पर आकर लगान बन्दी आदि आरम्भ कर ब्रिटिश शासनकी नीव आर्थिक व्यवस्था को पलटने का यत्न करने पर गाधी जी ने भगवान के कोप के भय से उस आन्दोलन को रोक दिया। यह समझने मे कोई दुविधा का अवसर नही कि भारत मे ब्रिटिश शासन की भूमि पर कर सम्बन्धी व्यवस्था के टूटते ही दूसरी कर सम्बन्धी शासन व्यवस्थायें और न्याय व्यवस्था भी भरभरा कर गिर पड़ती। और ऐसे कार्यक्रम मे भारत की भूखों मरती साधनहीन जनता देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सम्मिलित हो जाती। ठीक ऐसी ही अवस्था में गाधी जी ने, शोषक आर्थिक व्यवस्था की रक्षा के लिये ही आन्दोलन को रोक दिया। गाधी जी ने आन्दोलन को रोकने का कारण बताया था जनता मे जाग उठी हिंसा की वृति ! इस हिंसा का रूप समझ पाना कठिन नही।

यह मान लेना भी कठिन है कि गाधीजी को रक्तपात से ही आपत्ति थी। जब क्रान्तिकारी शक्तियों ने रक्तहीन मार्ग को अपनाया तब भी गाधीजी ने उनका विरोध ही किया। १९३० के सामूहिक आज्ञा भग क अवसर पर पेशावर में, सरकार के हुक्म के बावजूद गढ़वाली पल्टन के अपने निशस्त्र देशवासियों पर गोली न चलाने की घटना बहुत प्रसिद्ध है। सत्याग्रह और अहिंसा के उपदेशों के अनुसार इन सैनिकों का व्यवहार आदर्श माना जाना चाहिये था परन्तु गाधी जी ने इनके इस व्यवहार की सराहना कर शेष सेना और सरकारी नौकरों को क्रान्ति के पक्ष में आकर भारत में विदेशी शासन समाप्त करने के लिये उत्साहित नही किया। विपरीत इसके गाधी जी ने इन गढ़वाली सैनिकों की निन्दा की। उस समय इन सिपाहियों के साथ सहानुभूति न करने का कारण सैनिकों का स्वामी-भक्ति का धर्म पालन करना ही बताया परन्तु बाद मे गाधीजी ने इस विषय मे अपने विचार स्पष्ट किये कि ऐसे सिपाहियों

* Mahatma Gandhi, Rommain Rolland, P. 14

व्यवहार का परिणाम " भारत को बागियों के हाथ में दे देना होता। " मैं ऐसी परिस्थिति में जीवित नहीं रहना चाहता। मैं तो ऐसी स्थिति आने पर आग में जल कर मर जाना पसन्द करूंगा।" * इतना ही नहीं एक फ्रेंच रिपोर्टर के गांधी जी के अहिंसात्मक व्यवहार की निन्दा पर विस्मय प्रकट करने पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कल वे स्वयं इसी सेना के सहारे व्यवस्था कायम करने का भरोसा किये हैं। इन सैनिकों का इस प्रकार आज्ञा भंग वे सराह नहीं सकते।* गांधी जी प्रेम और सत्य की शक्ति से कैसे रामराज्य में विश्वास करते थे, यह इस बात से स्पष्ट है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी के अहिंसात्मक कार्यक्रम अथवा सत्याग्रह सिद्धान्त का मूलतत्व हिंसा या शारीरिक शक्ति के प्रयोग का विरोध नहीं था बल्कि साधनहीन जनता के हाथ में व्यवस्था की बागडोर चले जाने की सम्भावना को रोकना ही था। साधनहीन जनता यदि रक्तपातहीन मार्ग से भी व्यवस्था परिवर्तन करना चाहे तो वह भी गांधीवाद को स्वीकार नहीं। ज्यों-ज्यों कांग्रेस आन्दोलन का सम्पर्क जनता से बढ़ता गया, गांधी जी सार्वजनिक बगा[illegible] वत की आशंका के प्रति सतर्क होते गये। विदेशी शासन विरोधी भावना को सार्वजनिक रूप देने के काम में गांधी जी के आन्दोलन ने सहयोग दिया परन्तु विदेशी शासन से मुक्ति का प्रयत्न जनता के आत्मनिर्णय का अधिकार पा लेने के प्रयत्न का रूप न ले ले, यह आशंका गांधी जी की विदेशी शासन को देश से दूर करने की इच्छा से कहीं अधिक बलवान थी।

सत्याग्रह आन्दोलन को साधनहीन जनता या इस वर्ग के नेताओं के हाथ में न चला जाने देने के लिये गांधी जी ने आन्दोलन को क्रमशः अपने व्यक्तिगत नियन्त्रण में ही रखने की चेष्टा की और सत्याग्रह आन्दोलन को सार्वजनिक न रहने देकर व्यक्तिगत बना देने की अद्भुत आध्यात्मिक राजनीति का आविष्कार कर डाला। सन १९३९ में देश की साधनहीन श्रेणी में अपूर्व जागृति देख और युद्ध के कारण अंग्रेज सरकार को पहले की अपेक्षा कमजोर पा कर उन्हों ने युद्ध में फंसी अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध स्वराज्य के लिये आन्दोलन करना ही अनैतिकता

* 'इण्डिया टु डे' पामदत्त, १९४७। पृ० ३०३ और ४७४.

तथा हिंसा की वृत्ति बता दिया परन्तु जब जनता को क्रान्ति पत्तियों के प्रभाव मे जाते देखा तो १६४१ मे व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन भी आरम्भ करा दिया। यह आन्दोलन राजनैतिक दृष्टि से अद्भुत करामात थी क्योंकि यह आन्दोलन राजनैतिक अधिकारों या देश की स्वतंत्रता के लिये नहीं बल्कि अहिंसा के सिद्धान्त की रक्षा के लिये युद्ध के सैद्धान्तिक विरोध के अधिकार के लिये ही था। भारत की जनशक्ति के साथ खिलवाड या जनता की शक्ति को नाबदान में बहा देने का इससे दयनीय उदाहरण और क्या होगा।

१६४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के लिए गांधी जी ने जो शर्तें लगाइ थीं उनसे आन्दोलन को इतने समय तक रोके रहने और भविष्य मे भी अपने नियन्त्रण मे रखने के मूल प्रयोजन का पता स्वय लग जाता है। इस आन्दोलन मे भाग लेने की आज्ञा गाधी जी ने केवल उन्ही लोगों को दी जो भगवान मे विश्वास रखते थे। इस शर्त का स्पष्ट अर्थ था कि जो लोग गाधी जी को ईश्वर की प्रेरणा का स्रोत मान कर उनके सिद्धान्तों मे आँख मूद कर विश्वास नहीं करते उनके लिये देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन में स्थान न था। भारत की स्वतत्रता के राजनैतिक आन्दोलन से ईश्वर-विश्वास का क्या नाता हो सकता था? विशेष कर जब यह आन्दोलन काग्रेस का था जिसकी सदस्यता के लिये ईश्वर विश्वास की या साम्प्रदायिकता की कोई शर्त नहीं थी? परन्तु गाधी जी को अपने आध्यात्मिक उद्देश्य (स्वामी श्रेणी के अधिकार की रक्षा) की पूर्ति के लिये कोई भी असंगत बात करने मे सकोच अनुभव न हुआ। साम्प्रदायिक निरकुशता का इससे उग्र और क्या उदाहरण हो सकता है?

गाधी जी की सत्याग्रही नीति ऐसी किसी भी बात को सहन नही कर सकती थी जिससे अग्रेज सरकार पर वैधानिक तरीके से बोझ डाल कर उनका हृदय परिवर्तन कर (उनसे समझौता कर) शासन व्यवस्था भारतीय स्वामी श्रेणी के हाथ सरक्षित रूप से आने मे आशका हो जाय। इस आशंका से बचे रहने के लिये गाधीजी काग्रेस को सौ वर्ष तक भी अग्नि परीक्षा में तपाने के लिये तयार थे।* युद्ध के कारण अग्रेजों की निर्बल हो चुकी परिस्थिति मे गाधीवादी सत्याग्रह की नीति मे सफलता

* काग्रेस का इतिहास, पट्टाभि सीतारमैय्या। पृ० ८३५

हो गई क्योंकि इस समय अंग्रेज सरकार अपनी अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति से घबरा कर स्वयं ही इस देश की 'कम्युनिज्म विरोधी' श्रेणी से समझौता करना चाहती थी। * अंग्रेज पूंजीपति वर्ग ने अपने स्वार्थ की रक्षा के लिय भारतीय पूंजीपति श्रेणी के हाथों मे दे दिया यही कांग्रेस की रक्तहीन क्रांति थी।

गांधीवादी सरकार गांधी जी की सत्याग्रह और अहिंसा की परिभाषा के अनुसार ही आज भी काम कर रही है इसमे भी कोई सन्देह नहीं। जब भी साधनहीन जनता जीवन के लिये अवसर पा सकने के लिये संघर्ष करना चाहती है, गांधीवादी सरकार इस संघर्ष को हिंसा बता कर देश मे अहिंसा की रक्षा के लिये लाठी, गोली और फांसी के फंदे का उपयोग निस्संकोच करती है। आज गांधीवादी सरकार जनता के विचार या अपने प्रतिद्वन्द्वियों की नीति बदलने के लिये हृदय परिवर्तन की बात नहीं करती बल्कि उन्हे बिना मुकद्दमा चलाये जेलों में बंद कर देना ही गांधीवादी अहिंसा समझती है। गांधीवादी सत्याग्रही नीति का सबसे बड़ा विद्रूप यही है कि १९१९ में इस नीति का आरम्भ अंग्रेज सरकार द्वारा अपने विरोधी राजनैतिक कार्यकर्ताओं को बिना मुकद्दमा चलाये जेल में बंद कर देने के कानून का विरोध करने के लिये ही हुआ था और आज गांधीवादी सरकार गांधी जी के आदर्शों को पूरा करने के लिये इसी प्रकार के कानून को जनसुरक्षा कानून का नाम देकर अपनी व्यवस्था की रक्षा कर रही है।

---

* मि० क्लीमेंट एटली का ब्राइटन में ५ सितम्बर १९५० का भाषण।
National Herld, Sep. 6, 1959.

श्री यशपाल द्वारा लिखित कहानी संग्रह

वो दुनिया

Yashpal is a rebel whom art comes natural
यशपाल विद्रोही है परन्तु कला उनके स्वभावगत है। "यह कहानियाँ संसार की अच्छी कहानियों के संग्रह में ऊँचा स्थान पाने योग्य है।"—नेशनल हेरल्ड। मूल्य २)

ज्ञानदान

"विधाता ने लेखक को प्रतिभा और शक्ति मुक्तहस्त हो कर दी है। कोरे परिश्रम से यह कला सम्भव नहीं। हिन्दी कथा साहित्य अभी तक लेता ही रहा है राम कृपा से अब ऐसी रचनाओं के कारण वह देने योग्य भी हो गया है।"—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। मूल्य २)

फूलों का कुर्ता

"अपनी लाज बचाने के विश्वास में अपना दामन उठा कर मुँह ढक लेने वाला समाज कैसे उघड़ता जा रहा है?" यह इन कहानियों से स्पष्ट है मूल्य २)

तर्क का तूफ़ान

इन कहानियों का विषय कहानी संग्रह के नाम से ही बहुत कुछ व्यक्त है जो कहानियों के तीव्र यथार्थ का परिचायक है।

मूल्य २॥)

अभिशप्त

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ अंग्रेजी में अनूदित होकर इस के लेखक का परिचय हिन्दी से बाहर पहुँचा चुकी है। इस संग्रह की 'दासधर्म' 'आदमी का बच्चा' 'शम्बूक' आदि कहानियाँ दलित वर्ग की अदम्य और स्थायी पुकार है। मूल्य २)

भस्मावृत्त चिन्गारी

इस संग्रह की कहानियों में यशपाल ने कला के लिये कला के मिथ्या विश्वास की विकट आलोचना की है। यह कहानियाँ कला और जीवन के अटूट सम्बन्ध को निर्विवाद रूप से स्पष्ट कर देती है। मूल्य २)

धर्मयुद्ध

हमारी साधारण सुलभ घटनाओं में हमारे महान आदर्शों के आधार किस प्रकार छिपे रहते हैं, यह कहानियाँ, इसी वास्तविकता का दिग्दर्शन है। मूल्य २)

उत्तराधिकारी

"· · ··इस संग्रह की सभी कहानियाँ मुझे बहुत ही अच्छी लगीं। इन कहानियों में चरित्र-चित्रण से अधिक विषय चित्रण है। फिर भी यशपाल जैसे कलाकार की सधी हथौटियों की छटा देखने वाले विशुद्ध कलापारखी भी इस कथा संग्रह को पढ़ते हुए कहीं भी प्यासे न रहेंगे!" श्री० अमृतलाल नागर। मूल्य २)

चित्र का शीर्षक

'चित्र का शीर्षक' यशपाल की छोटी छोटी परन्तु अत्यन्त अर्थ पूर्ण कहानियों का नवीनतम संग्रह है। मूल्य २)

उपन्यास

१—मनुष्य के रूप ६) २—पक्का कदम ४) ३—देशद्रोही ५)
४—दिव्या ४) ५—पार्टी कामरेड २) ६—दादा कामरेड २॥)

नाटक

नशे नशे की बात! २॥)

राजनैतिक निबन्ध

मार्क्सवाद ३) चक्कर क्लब २) न्याय का संघर्ष २)
शोषक श्रेणी के प्रपंच (गाधीवाद की शव परीक्षा) २॥)
बात-बात में बात २॥)
रामराज्य की कथा २) देखा, सोचा, समझा! २॥)

सिंहावलोकन

यशपाल के क्रान्तिकारी जीवन की आत्मकथा

पहिला भाग—साण्डर्सवध, असेम्बली-बमकाड और लाहौर बम फैक्टरी की कहानी। मूल्य ४॥)

दूसरा भाग—वायसराय की ट्रेन के नीचे बमविस्फोट, लाहौर जेल पर आक्रमण की तैयारी, बहावलपुररोड बमकेस, अतिशीचक्कर, कानपुर केस और गिरफ्तारी। मूल्य ५॥)

विप्लव-कार्यालय, लखनऊ